

द्विः

दुर्लभबौद्ध ग्रन्थशोधपत्रिका

Journal
of
Rare Buddhist Texts Research Unit

38

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी
2004





ध्वाः

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिक

38

सम्पादक

डवड समतेन
निदेशक

जनार्दन पाण्डेय



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४८

कार्तिक पूर्णिमा

ख्रीस्ताब्द २००४

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
छेरिंग डोलकर
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
छोग दोर्जे
रंजन कुमार शर्मा

३८वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००४

मूल्य : ₹० ९०.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००४

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīh

Journal
of
Rare Buddhist Texts Research Unit

38

Editors

NGAWANG SAMTEN

Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT

Central Institute of Higher Tibetan Studies

Sarnath, Varanasi

B.E. 2548

KĀRTIKA PŪRNIMĀ

C.E. 2004

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Tsering Dolkar
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Chhog Dorjee
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxviii, 550 copies, 2004

Price : Rs. 90.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2004

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धी: XXXVIII

विषयानुक्रमणी

स्तोत्र—

महावज्रधरनामाष्टोत्तरशताध्येषणा	1-2
सर्वतथागताध्येषणा	3-4
रहस्ये परमे रम्ये — जनार्दन पाण्डेय	5-8
लुप्त बौद्ध वचन संग्रह — बनारसी लाल	9-14
बौद्ध तान्त्रिक वाङ्मय में अपभ्रंश (2) — जनार्दन पाण्डेय	15-26
बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय — ठिनलेराम शाशनी	27-50
आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प से मन्त्रनय का विकास — प्रो० सुनीति कुमार पाठक	51-64
महाकवि आचार्य मातृचेट विरचित त्रिरत्नस्तोत्र — जलछेन नमडोल	65-74
दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री — ठाकुरसेन नेगी	75-95
बौद्ध देवकुलों का लाक्षणिक स्वरूप — ठाकुरसेन नेगी	96-116
बौद्ध तन्त्रों में प्रतिपादित शिष्य-भाव — बनारसी लाल	117-128
तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (8) — छेरिंग डोलकर	129-138
वज्रयान की भूमि एवं मार्ग व्यवस्था (2) — छोग दोर्जे	139-150
बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (3) — रञ्जनकुमार शर्मा	151-156
आर्यामोघपाशनामहृदयं महायानसूत्रम्	157-169
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी)	170-173
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती)	174-179

यः प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो

न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति ।

यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो

यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ॥

(उद्धृत-बोधिचर्यावतारपञ्जिकायाम्)

महावज्रधरनामाष्टोत्तरशताध्येषणा

[महावज्रधरनामाष्टोत्तरशताध्येषणा नामक स्तोत्र को सर्वतथागतत्वसंग्रह के प्रथम पटल 'वज्रधातुमहामण्डलविधिविस्तर (पृ० 18-19) से तथा सर्वतथागताध्येषणा को गुह्यसमाजतन्त्र के 18वें पटल (श्लो० 206-217) से उद्धृत कर यहाँ दिया जा रहा है ।]

वज्रसत्त्व महासत्त्व वज्रसर्व तथागत ।
समन्तभद्र वज्राद्य वज्रपाणे नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

वज्रराज सुबुद्धाम्य वज्राङ्कुश तथागत ।
अमोघराज वज्राम्य वज्राकर्ष नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

वज्रराग महासौख्य वज्रबाण वशङ्कर ।
भारकाम महावज्र वज्रचाप नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

वज्रसाधो सुसत्त्वाम्य वज्रतुष्टि महारते ।
प्रामोद्यराज वज्राम्य वज्रहर्ष नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

वज्ररत्न सुवज्रार्थ वज्राकाश महामणे ।
आकाशगर्भ वज्राढ्य वज्रगर्भ नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

वज्रतेज महाज्वाल वज्रसूर्य जिनप्रभ ।
वज्ररश्मि महातेज वज्रप्रभ नमोऽस्तु ते ॥ 6 ॥

वज्रकेतु(तो) सुसत्त्वार्थ वज्रध्वज सुतोषक ।
रत्नकेतु(तो) महावज्र वज्रयष्टे नमोऽस्तु ते ॥ 7 ॥

वज्रहास महाहास वज्रस्मित महाद्भुत ।
प्रीतिप्रामोद्य वज्राम्य वज्रप्रीते नमोऽस्तु ते ॥ 8 ॥

वज्रधर्म सुतत्त्वार्थ वज्रपद्म सुशोधक ।
लोकेश्वर सुवज्राक्ष वज्रनेत्र नमोऽस्तु ते ॥ 9 ॥

वज्रतीक्ष्ण महायान वज्रकोश महायुध ।
मञ्जुश्री(श्रि) वज्रगाम्भीर्य वज्रबुद्धे नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

वज्रहेतु(तो) महामण्ड वज्रचक्र महानय ।
सुप्रवर्तन वज्रोत्थ वज्रमण्ड नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

वज्रभाष सुविद्याग्न्य वज्रजाप सुसिद्धिद ।
अवाच वज्रसिद्धयग्र वज्रवाच नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

वज्रकर्म सुवज्राज्ञा(ज्ञ) कर्मवज्र सुसर्वग ।
वज्रामोघ महौदार्य वज्रविश्व नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

वज्ररक्ष महाधैर्य वज्रवर्म महादृढ़ ।
दुयो(यो) धन सुवीर्याग्न्य वज्रवीर्य नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥

वज्रयक्ष महोपाय वज्रदंष्ट्र महाभय ।
मारप्रमर्दिन् वज्रोग्र वज्रचण्ड नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

वज्रसन्धि(न्धे) सुसान्निध्य वज्रबन्ध प्रमोचक ।
वज्रमुष्ट्यग्रसमय वज्रमुष्टे नमोऽस्तु ते ॥ 16 ॥

यः कश्चिद् धारयेन्नाम्नामिदन्तेऽष्टशतं शिवम् ।
वज्रनामाभिषेकाद्यैः सर्वाग्रैः सोऽभिषिच्यते ॥ 17 ॥

यस्तु गौणमिदन्नाम्नां महावज्रधरस्य तु ।
शश्वदगेयं स्तुयात् सोऽपि भवेद्वज्रधरोपमः ॥ 18 ॥

अनेनाभिष्टुतोऽस्माभिर्नाम्नामष्टशतेन तु ।
महायानाभिसमयं विस्फारय महानयम् ॥ 19 ॥

अध्येषयामस्त्वां नाथ भाषस्व परमं विधिम् ।
सर्वबुद्धमहाचक्रं महामण्डलमुत्तमम् ॥ 20 ॥

[॥ इति महावज्रधरनामाष्टोत्तरशताध्येषणम् ॥]

सर्वतथागताध्येषणा

यं त्र्यध्ववज्रमुदयं भवमोक्षभूतं
शान्तं निरावरणशुद्धखधातुभावम् ।
बुद्धादिबुद्धपरमेश्वरबोधिवज्रं
तं कायचित्तवचनैः सततं नमामः ॥ 1 ॥

यद्रूपवेदना क]संज्ञसुसंस्कृतं च
विज्ञानमायतनषट्कषडिन्द्रियं च ।
अप्तेजवायुपृथिवीगगनं च सर्वान्
तान् बोधिचित्तसदृशान् विपुलान् नमामः ॥ 2 ॥

यन्मोहद्वेष तथ रागसवज्रधर्मान्
विद्याप्रयोगजनितान् सततं प्रधर्मान् ।
नानाविचित्ररतिविह्वलभावभूतान्
तान् बोधिचित्तसदृशान् विपुलान् नमामः ॥ 3 ॥

संग्राहणं रति तथ कृतिनिश्चलं च
हेतुफलप्रकृतिचित्तगतानुधर्मान् ।
भ्रम दोष राग तथ आवरणञ्च वज्रान्
तान् बोधिवज्रसदृशान् विपुलान् नमामः ॥ 4 ॥

ध्यायन्ति ये इमु विशुद्धमनादिभावं
प्रज्ञा-उपायजनितं विगतोपमं च ।
गुह्याभिषेकव्रतसंवरयोगनित्यं
तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 5 ॥

ये भावयन्ति इमु उत्तमसिद्ध्युपायं
सेवाविधानमुपसाधनसाधनेन ।
ये महासाधनमतिनिश्चितसाधकेन्द्रा-
स्तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 6 ॥

ये साधयन्ति कृतसन्ध्यचतुष्कवग्रै-

रन्तर्हितादि विविधानिह हीनसिद्धीन् ।

अविनष्टमार्गं इमु बुद्धगुरुप्रसादै-

स्तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 7 ॥

शृण्वन्ति ये इमु समाजसुगुह्यतन्त्रं

स्वाध्यां करोन्ति च पठन्ति च चिन्तयन्ति ।

पूजां करोन्ति च लिखन्ति च लेखयन्ति

तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 8 ॥

स्वाध्यां च ये इमु अभियुक्तसुसाधकेन्द्राः

शान्त्यादिकर्मप्रसरेण सुकल्पितेन ।

यन्त्रेण मन्त्रविदितेन तथ मुद्रितेन

तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 9 ॥

ये देशयन्ति च स्पृशन्ति च संस्मरन्ति

शृण्वन्ति साधकविभोः खलु नाममात्रम् ।

श्रद्धां करोन्ति च वसन्ति च एकदेशे

तान् बोधिवज्र इव लक्ष्य सदा नमामः ॥ 10 ॥

एभिः स्तोत्रपदैः शान्तैस्तनुयात् सर्वनायकान् ।

अनुमोदयन्ति ते नाथा बोधिसत्त्वा महामहाः ॥ 11 ॥

सुभाषितमिदं तन्त्रं सर्वतन्त्राधिपं परम् ।

सर्वतथागतं गुह्यसमाजं गुह्यसम्भवम् ॥ 12 ॥

[॥ इति सर्वतथागताध्येषणा ॥]

रहस्ये परमे रम्ये (2)

—जनार्दन पाण्डेय—

[विगत 37वें अंक में चक्रसंवरतन्त्र और वसन्ततिलका के व्याख्याकारों ने उक्त अंश की जो व्याख्या की है, उसे व्यक्त किया गया था। इस अंक में सम्पुटोद्भव तन्त्र में जो व्याख्या की गई है, उसे प्रस्तुत किया जा रहा है।]

वज्रगर्भ के यह पूछने पर कि

श्रोतुमिच्छामि ज्ञानेन्द्र सर्वतन्त्रनिदानकम् ।

रहस्यं सम्पुटोद्भूतं लक्ष्यलक्षणसम्पुटम् ॥

तब भगवान् ने कहा—हे वज्रगर्भ, तुमने बड़ा अच्छा प्रश्न किया कि सब तन्त्रों का रहस्य क्या है? सुनो, मैं तुम्हें बताता हूँ। तब वज्रगर्भप्रभृति सभी बोधिसत्त्व प्रसन्न होकर बार-बार प्रणाम करते हुए बोले—हे भगवन् हमें विस्तार से बताइये कि सर्वतन्त्र से क्या तात्पर्य है? उसका निदान (निश्चय) कैसे होता है? रहस्ये से क्या अर्थ समझा जाता है? सम्पुटोद्भव नाम क्यों पड़ा? इसको कैसे समझें?

तब भगवान् ने स्पष्ट किया—सर्वतन्त्र का अर्थ है गुह्यसमाजादि सभी तन्त्र, जिनकी देशना की गई है। निदान का अर्थ है, उन सभी तन्त्रग्रन्थों का निष्कर्ष, अर्थात् उन सभी ग्रन्थों ने क्या निश्चय किया है। यह निश्चय या निष्कर्ष ही रहस्य कहलाता है। क्योंकि उसे हरि (विष्णु), हर (शिव) हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) और श्रावक व प्रत्येकबुद्ध भी नहीं जान पाते। इसीलिये उसे रहस्य (गूढ़) कहा जाता है। सम्पुट शब्द का अर्थ है जुड़ा हुआ अर्थात् प्रज्ञा और उपाय का अद्वयीभाव (दोनों की समापत्ति) उससे जिसका उद्भव होता है, वही सम्पुटोद्भव है। इस प्रकार स्थिरचल भावस्वभावात्मक जिससे लक्षित किया जाता है, उसे लक्षण कहते हैं। आखिर इन सबका तात्पर्य क्या है अर्थात् वह रहस्य है क्या? इस पर कहते हैं—‘अथवा पूरे सर्वतन्त्रनिदानसम्पुटोद्भव’ वाक्य का अर्थ है वज्रसत्त्व। रहस्य का अर्थ है औपदेशिक मन्त्रोद्धार, माण्डलेय देवता आदि अभिषेक लक्षण प्रज्ञोपायात्मक तन्त्र।

वह भी तुम्हें बताता हूँ—सुनो। प्राणियों को सर्वप्रथम मल (अज्ञान) का प्रक्षालन करना चाहिये। उसके बाद शून्यता पर विचार करना चाहिए कि रूपधातु, श्रोत्रधातु, गन्धधातु, रसधातु, स्पर्शधातु, यहाँ तक कि मन भी, ये सब कुछ नहीं हैं, सब शून्य हैं।

इस पर वज्रगर्भ का कहना है कि भगवन् चक्षु, श्रोत्र, गन्ध, रस, स्पर्श धातुओं की शून्यता स्वीकार करने पर तो फिर कुछ रह ही नहीं जायगा तो विज्ञान का अनुभव कैसे होगा क्योंकि—

नास्ति रूपं न द्रष्टा च न शब्दो न श्रोता च ।
न गन्धो नापि घ्राता च न रसो नापि रसकः ॥
न स्पर्शो नापि स्प्रष्टा च न चित्तं नापि चैतिकम् ।

ऐसी स्थिति में विज्ञान कैसे होगा? और—

रहस्ये परमे रम्ये सर्वात्मनि सदा स्थितः ।

इसका क्या प्रयोजन रह जायेगा? इस पर भगवान् कहते हैं—सुनो, इन सोलह अक्षरों से धातुओं का बोध होता है, जिनमें चित्त सदा गतिमान् रहता है और उसी से विज्ञान की प्रतीति होती है। इसीलिये सदा सर्वप्रथम बोधिचित्त का उत्पाद अर्थात् स्पष्ट ज्ञान किया जाता है। उपर्युक्त सोलह अक्षरों से धातुओं का बोध कैसे होता है इसे स्पष्ट करते हैं—

रकारो रक्तधातुश्च हकारः स्पर्शकस्तथा ।
स्येकारं श्लेष्ममित्याहुः पकारश्चित्तमेव च ॥
रकारेण रसः ख्यातो मेकारेण मेदस्तथा ।
रकारमग्निमेवोक्तं म्येकारेण मांसमुच्यते ॥
सकारेण विद्वोक्तं वाकारेण वसा तथा ।
त्पकारं त्वचमेवोक्तं निकारमस्थिमेव च ॥
सकारेण भवेन्मूत्रं दाकारेण फुप्फुसं स्मृतम् ।
स्थिकारेण पद्ममेवोक्तं युक्तं द्रव्यं सुशोभनम् ॥
तकारेण भवेच्छुक्रं बोधिचित्तसमुद्भवम् ।
इत्येवं कथितं देवि नाडीनादस्वरूपतः ॥

रकार से रक्तधातु, हकार से स्पर्शधातु, स्येकार से श्लेष्मधातु, पकार से चित्त(पित्त)धातु, रकार से रसधातु, मेकार से मेदोधातु, रकार से अग्निधातु, म्येकार से मांसधातु, सकार से विड्धातु, र्वाकार से वसाधातु, त्मकार से त्वग्धातु, निकार से अस्थिधातु, सकार से मूत्रधातु, दाकार से फुफ्फुसधातु स्थिकार से हृत्पद्मधातु, तःकार से शुक्रधातु की प्रतीति होती है जिससे बोधिचित्त का समुत्पाद होता है। इसे नाड़ी और नाद के रूप में स्पष्ट किया गया है जो कलात्मक होकर बोधिचित्त हो जाता है।

र-कार अग्नि का बीज है जो रक्त का बोध कराता है। रक्त से पित्त की उत्पत्ति होती है फिर इन दोनों के संयोग से श्लेष्म बनता है, स्नायु से स्वेद की उत्पत्ति होती है और इन सबका अधिपति हकार रूप वायु है जो सर्वग (स्वच्छन्द सर्वत्र गमन की सामर्थ्य वाला) कहा जाता है। इस प्रकार ये—र, प, श, स् और ह—ये बीजपंचक कहे जाते हैं जो अस्थि संधियों में व्याप्त रहते हैं। तालु आदि में रेफादि चार ही बीज होते हैं। हकार रेफ के साथ जब छठे स्वर (ऊ) से युक्त होता है तो वह (हूँ) विज्ञान का बोधक होता है। इस हकार द्वारा ही सर्वबुद्धसमागम (सब बुद्धों का साक्षात्कार) हो सकता है। इसी से नादरूप द्वारा सारे समयाचार निर्गत हुए हैं। तीनों लोकों में दुर्लभ, मन्थ-मन्थान संयोग से, किसी प्रकार प्राप्त इस विधान को जो कि मन्त्र, जप, ध्यानादिरूप में तन्त्रों में कहा गया है, मैं तुम्हें सुनाता हूँ ध्यान से सुनो—

योनि के मध्य में दो नाड़ी होती हैं—वाम और दक्षिण। वामनाड़ी में शुक्र होता है और दक्षिण नाड़ी में रक्त। इन दोनों के परस्पर मिलने से धर्मधातु बनता है। जिसमें सत्त्वस्वभाव काय, रजःस्वभाव वाक् और तमः स्वभाव चित्त होता है। अतः सत्त्व से शुक्र (काय), रज से रक्त (वाक्) और तम से चित्त की उत्पत्ति होती है और वज्र तथा पद्म के संयोग से भाव-अभाव में समरसता हो जाती है, विट्, मूत्र, श्लेष्म, रक्त और शुक्र इन पाँच से पञ्चामृतमय पिण्ड बनता है, वही वज्री कहलाता है। इसमें अस्थि, मज्जा और शुक्र पितृ अंश से और त्वचा, मांस और रक्त माता के अंश से होते हैं। यही पिण्ड संग्रह कहलाता है। यही एक पिण्ड फिर अनेक रूप में हो जाता है, इसी में नाड़ीसंचार होता है। ऊर्ध्वद्वार और अधोद्वार ये दो द्वार होते हैं, जिनसे योगी को अधोद्वार से विज्ञान के और ऊर्ध्वद्वार से धातुओं के प्रवेश का चिन्तन करना चाहिये। वज्री देह में नित्य (अविच्छिन्न) रूप से सद्य स्थित रहता है। ऊर्ध्वद्वार में त्रियन्त्र (काय-वाक्-चित्त यन्त्र) नवद्वारों से परिवृत्त रहता है।

इस पर वज्रगर्भ ने पूछा—भगवान् तब चित्त की क्या स्थिति होती है? तब भगवान् ने कहा—काय, वाक्, चित्त ये तीनों प्रत्येक उत्तम, मध्यम और अधम रूप से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। अतः इसी को त्रियन्त्र कहते हैं। एक स्तम्भ, नवद्वार, स्थूल, पाँच अधिदेवताओं वाला तथा नव स्रोतों वाला यह कायिक द्वार कहलाता है, जो अधम है। सचेतन पुरुष अर्थात् योगी सदा इस विषय में जागरूक रहता है। चित्त की दो स्थितियाँ हैं—लीन और प्रवृत्ति। लीन तो वह स्वभावतः ही रहता है, किन्तु सर्वसत्त्वों में वह प्रवृत्त रहता है। इसे सचेतन अर्थात् योगी ही जान पाता है, अचेतन (अयोगी) नहीं। वैरोचनादि बुद्ध सदा निश्चल होकर ऊर्ध्वद्वार में स्थित रहते हैं इसलिये उनका ऊर्ध्व को विसर्जन होता है, क्योंकि आवाहन और विसर्जन में चित्त की सदा गति होती है। इसीलिये सिद्ध लोग सदा प्रवृत्ति और निवृत्ति में, गुण-दोष के प्रवर्तन में, सुख-दुःख के निरूपण में सदा सहज रूप में स्थित रहते हैं।

ऐसा भगवान् वज्री ने कहा है।

•

लुप्त बौद्ध वचन संग्रह

—बनारसी लाल—

[प्रस्तुत अंक में वज्रपाणि विरचित लघुतन्त्रटीका से वचनों को संगृहीत कर प्रकाशित किया जा रहा है।
इस ग्रन्थ का प्रकाशन Serie Orientale Roma - LXXXVI में Instituto Italiano Per L' Africa E L' Oriente, Roma से सन् 2001 में हुआ है। इसके सम्पादक Claudio Cicuzza हैं।]

आदिकर्म

¹यावन्न कुरुते योगी बोधिचित्तविसर्जनम् ।
योनौ प्राप्नोत्यविच्छिन्नं तावदानन्दमुत्तमम् ॥
तेनैव सुखरूपेण संयुतं बुद्धबिम्बकम् ।
भावयेन्नित्यमात्मानं यावच्छुक्रं स्थिरीभवेत् ॥

आदिबुद्ध

²उदकं मुकुटः पट्टो वज्रघण्टो महाव्रतम् ।
नामानुज्ञासमायुक्तः सेकः सप्तविधो नृप ॥

³चक्रसंवर

⁴सिद्धीनां कारणं नित्यं समयानां तु पालनम् ।
दूर्ती नान्यकुलोद्भूतां कामयेत् कामलौल्यतः ॥
अद्वैतं चाप्रतिहतं समयानां तु चेष्टितम् ।
नारीचर्यासुमन्थानं ब्रह्मचर्यं तथानने(ऽऽधानम्) ॥

-
1. ल० तं० टी०, पृ० 124
 2. ल० तं० टी०, पृ० 126, यह वचन सेकोदेश नामक ग्रन्थ का है, कारिका संख्या 10
 3. लघुतन्त्र टीका में यह वचन अत्रैव तन्त्रे कहकर उद्धृत किया है। चक्रसंवरतन्त्र प्रकाशित हो चुका है। यह अंश 26वें परिच्छेद के हैं (26.9-11) इसमें किञ्चिद् न्यूनाधिक एवं पाठभेद है। अतः इस वचन को यहाँ संगृहीत किया गया है।
 4. ल० तं० टी०, पृ० 153

आक्रोशो नाडीसंचार इत्यष्टौ समयः स्मृताः ।
एतान् यः पालयेन् नित्यं स शीघ्रं सिद्धिमाप्नुयात् ॥

डाकिनीवज्रपञ्जर

(1)

¹आकाशे त्वजडे स्वच्छेऽनवकाशप्रकाशिनि ।
विश्वे वज्रालये लयने सर्वधातौ मनोरमे ॥

(2)

²प्रथमं कलशाभिषेकं द्वितीयं गुह्यमिष्यते ।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं तु यथा तन्न तथागतः ॥

प्रथमं तोयसेकेन द्वितीयं मौलिसेकतः ।
तृतीयं पट्टसेकेन चतुर्थं वज्रघण्टयोः ॥

पञ्चमं स्वाधिपेनैव नामसेकं तु षष्ठमम् ।
बुद्धाज्ञा सप्तमं सेकं कलशं सेकमष्टमम् ॥

नवमं गुह्यसेकेन दशमं प्रज्ञाभिषेकतः ।
तत्त्ववज्रप्रयोगेण सर्वान् वज्रव्रतान् ददेत् ॥

व्याकरोति स्वयं शास्ता एष सेकविधिं स्वयम् ।
आचार्यो नावग(म)न्तव्यः सुगताज्ञां न लङ्घयेत् ॥

(3)

³सर्वज्ञहेतुकं तद्धि सिद्धिनिकटे निवर्तकम् ।
पश्चान्मायोपमाकारं स्वप्नाकारं क्षणात्क्षणम् ॥

-
1. ल० तं० टी०, पृ० 48
 2. ल० तं० टी०, पृ० 129
 3. ल० तं० टी०, पृ० 139

(4)

¹षडङ्गं भावयेत्तस्मात् स्वाधिष्ठानसमं पुनः ।
पश्चात् संलक्षयेच्चिह्नमनुलोमविधिक्रमैः ॥

(5)

²सिद्ध्यत्यशेषनिःशेषं त्रैधातुकं चराचरम् ।
लोकधातुषु सर्वेषु यावन्तो वज्रदेहिनः ॥

पञ्चविंशत्साहस्र-श्रीसमाज

³वज्रपर्यङ्कतश्चित्तं मण्यन्तर्गतमीक्षयेत् ।
निःस्यन्दादिसुखापूर्णं वैमल्यं यावदेति तत् ॥...

भगे लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य बोधिचित्तं न चोत्सृजेत् ।
भावयेद्बुद्धबिम्बं तु त्रैधातुकमशेषतः ॥

परमादिबुद्ध

(1)

⁴कामावचरां सिद्धिं साधयेत् कर्ममुद्रया ।
अकनिष्ठभुवनपर्यन्तं रूपाख्यं ज्ञानमुद्रया ॥

सर्वज्ञतां महायोगी महामुद्राङ्गभावनैः ।
साधयेदक्षरं सौख्यं बुद्धत्वमिह जन्मनि ॥

1. ल० तं० टी०, पृ० 140

2. ल० तं० टी०, पृ० 141

3. ल० तं० टी०, पृ० 123; प्रथम श्लोक डाकिनीजालसंवररहस्य, पृ० 3 में भी श्रीसमाज के वचन के रूप में उद्धृत है तथा अमृतकणिकोद्योत पृ० 152 में भी विना नाम के उद्धृत है। दूसरा श्लोक विमलप्रभा (भाग-II, पृ० 107) में आदिबुद्ध का तथा पृ० 205 में मूलतन्त्र के वचन के रूप में उद्धृत है।

4. ल० तं० टी०, पृ० 125

(2)

¹आदौ सप्ताभिषेको यो बालानामवतारणम् ।
त्रिविधो लोकसंवृत्या चतुर्थः परमार्थतः ॥

कुम्भो गुह्याभिषेकश्च प्रज्ञाज्ञानाभिधानकः ।
पुनरेव महाप्रज्ञा तस्या ज्ञानाभिधानकः ॥

क्षरः क्षरस्ततः स्पन्दो निःस्पन्दश्च ततोऽपरः ।
कायवाक्चित्तसंशुद्ध्या अभिषेकत्रयं क्रमात् ॥
चतुर्थो ज्ञानसंशुद्धिः कायवाक्चित्तशोधकः ।

(३)

²समयचतुष्टयं रक्ष्यं ज्ञानेऽयं मार्गसंस्थितैः ।
गोक्वादिकं सदा भक्ष्यं समयो दुरतिक्रमः ॥

प्रज्ञापारमिता

³अथ खलु शक्रो देवानामिन्द्र आयुष्मन्तं सुभूतिमेतदवोचत् । य आर्यसुभूतेऽत्र प्रज्ञापारमितायां योगमाप्स्यते क्व स योगमाप्स्यते । सुभूतिराह । आकाशे स कौशिक योगमाप्स्यते । यः प्रज्ञापारमितायां योगमाप्स्यते अभ्यवकाशे स कौशिक योगम[त्सुकामः] यः प्रज्ञापारमितायां शिक्षितव्यं मंस्यत इति ।

भगवान् (श्रीहेरुक)

(1)

⁴श्रीकारादद्वयं ज्ञानं हेकाराद्धेतुवर्जितम् ।
रुकाराद्रूपनिर्मुक्तं ककारात् कारणोज्झितम् ॥

-
1. ल० तं० टी०, पृ० 127, यह वचन सेकोद्देश के हैं, द्रष्टव्य कारिका सं० 8, 15-17
 2. ल० तं० टी०, पृ० 147
 3. ल० तं० टी०, पृ० 141
 4. ल० तं० टी०, पृ० 45

ऐश्वर्यादिगुणैर्युक्तो भगो वा मारभञ्जनात् ।
स यस्यास्तीत्यसौ प्रोक्तो भगवान् त्रैधातुकेश्वरः ॥

(2)

¹त्रिकुलं पञ्चकुलं चैव स्वभावैकशतकुलम् ।

(3)

²गिरिगह्वरकुञ्जेषु महोदधितटेषु च ।
आदिसिद्धिश्मशानेषु तत्र मण्डलमालिखेत् ॥

(4)

³कर्ममुद्रां परित्यज्य ज्ञानमुद्रां विकल्पितम् ।
परमाक्षरयोगेन महामुद्रां विभावयेत् ॥

(5)

⁴आनन्दं प्रथमं प्रोक्तं परमानन्दं द्वितीयकम् ।
तृतीयं विरमानन्दं सहजानन्दं तु शेषतः ॥

(6)

⁵सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्षयेत् ।
यदि न स्यात् प्रत्ययस्तत्र तदा मे तन्मृषावचः ॥

-
1. ल० तं० टी०, पृ० 54, वि० प्र० में मूलतन्त्र के वचन के रूप में उद्धृत है, भाग-1, पृ० 50, देखें—
गु० स० तं० 18.35
 2. ल० तं० टी०, पृ० 111
 3. ल० तं० टी०, पृ० 124
 4. ल० तं० टी०, पृ० 128
 5. ल० तं० टी०, पृ० 139, परमादिबुद्ध के वचन के रूप में अमृतकणिकोद्योत में उद्धृत हुआ है। द्र०—
आर्यमञ्जुश्रीनामसंगीति, पृ० 143

लक्षाभिधान

(1)

¹शून्यताकरुणयोरैक्यं यस्मिन् तन्त्रे प्रकाशितम् ।
साधनं लोकनाथस्य तत् तन्त्रं बुद्धदेशितम् ॥
लोकसंवृतिसत्येन लौकिकीसिद्धिसाधने ।
विकल्पभावना प्रोक्ता मन्त्रजापविधिस्तथा ॥
परमार्थसत्यतः प्रोक्ता सर्वसङ्कल्पवर्जिता ।
भावना ज्ञानकायस्य साधनाय तथागतैः ॥

(2)

²तद्यथा—तत्र बाह्ये सूर्यस्य प्रतिवर्षं दिनमेव । तस्मिन् दिने कालविशेषः । षट्-
शताधिकैकविंशत्सहस्रदण्डास्ते च सूर्यश्वासाः । ते चाध्यात्मनि प्रतिदिने श्वासा देहिनामिति ।

समयपरिच्छेद

³पतिते बोधिचित्तेऽस्मिन् सर्वसिद्धिनिधानके ।
मूर्च्छिते स्कन्धविज्ञाने सिद्धिं प्राप्नोति न व्रती ॥

•

-
1. ल० तं० टी०, पृ० 49
 2. ल० तं० टी०, पृ० 67
 3. ल० तं० टी०, पृ० 157, यह वचन लु० बौ० व० सं० 1, पृ० 4 में आदिबुद्ध, पृ० 53 में रतिवज्र, पृ० 70 में शुक्रसिद्धि के वचन के रूप में किञ्चित् पाठभेदों सहित दिया गया है ।

बौद्ध तान्त्रिक वाङ्मय में अपभ्रंश-2

—जनार्दन पाण्डेय—

[धीः के 36वें अंक में हमने उपर्युक्त शीर्षक से बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में प्राप्त अपभ्रंश अंशों की स्थिति का विवरण देते हुए निवेदन किया था कि आगे के अंकों में भी हम प्रायः अप्रकाशित ग्रन्थों से उपलब्ध अंशों को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते रहेंगे ताकि सुधीः विद्वान् इनके संशोधन और सम्पादन में हमारा मार्गदर्शन करने की कृपा करेंगे। इसी सातत्य में प्रस्तुत अंक में 4 ग्रन्थों में प्राप्त अंश दे रहे हैं, पाण्डुलिपियाँ सर्वत्र एक आकार की नहीं होती। अतः इन उद्धरणों में पत्र संख्या न देकर केवल पटल संख्या का निर्देश किया है और मूल मातृका में जैसा पाठ है उसमें किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया है।]

वज्रडाक

(3)

धिलि धिलि वज्ज वर्षय वर्षय वज्जडाइणि वर्षवर्षाय हूँ 3 हो 3 वषट् 3 ठठ
हासो 2 हा 2 खण्डेन्दुविहिणातिल अपरि 2 सि 2 तो जल हरु अट्टाटिऔ उ झणिमन्तो
महामायासहाव। (चतुर्थपटले)

(4)

कप्पारि दण्डिनि कुम्भासनसुत्थित मद्धान्तस्समज्जिअ पुणो विचउत्थोत्थित
जमदीअ अन्तो भट्टंडपरि अग्निपरिभूसिउ। पुणो विकम्मो जमदंसु सोहिअ अम्भोच्चिअव
अनंसज्जुत्त। अग्गिकुम्भासणो नाहो। फणिफणवयणोज्जलानाहे। काकिमुखिमुक्त
केसिनोग्नि इन्द्रकाग्नि कोटि सोज्जिवेहिपाटिहन् पप परि 2 सि 2 कह कहिज्ज
इष्माषेयंजइ इन्दबह्मविष्णुमहेसरो येच्चखे विस वलवाहणो विहो विष्णोसन्त हन्नासेइ
काकिहअ असट्ठिअं ॥ इत्याह।

भिद्दिभुवने सरखण्डेन्दु बिन्दुसोहिः। पुन मज्जमज्जा संगहिअं उत्तरमज्ज
रविचरणकमलसज्जतु। नइत्तत्ति प्रमिकिर अहुसोहिअ। करुणहमि द्वि अपरिमि।
उत्तरमयहिअंजं भस्म अन्तवसहउ अरि द्विअं। पवणो चण्डय भाहि 2। जम हूँ द्विनीन
इरिवइ द्वि 2। मोहो भरण भरिअं। जम महणी मोह परि 2 सिअं।

यदि अंकुस्म उत्तरम्य पटमत्तुह वेणि संज्जत्तुं भद्रउ अरिसट्ठिअं जमदूइ वरुणासणं लुइ मोहता भाविअं। पुनुकसख्य कहिअं। जमदंदिनी भद्दसि रसोहिअं। पुणोइ दाद्विणिन् इजति आसनं सोह सह संयुक्तम्। तहसा वरोमोह सहा परिउ सिअं। इत्येवं कथितं देवि कन्याकर्षणमुत्तमम्।

यच्चस्म अद्वेशहियम्। मज्झ। ऊ इन्द हदा वा आजमण उप्याहि आजीहा हदाचये दण्डेन तज्जि आशूलं हरेण शूल आ स्वाहा। ॐ जम्भणि जम्भेहि ॐ स्तम्भनि स्तम्भेहि ॐ मोहनि मोहेहि।

(षष्ठ पटले)

सम्पुटोद्भव

(1)

सोहइ वज्ज मुल्लालु तरिअ स तु विमोह।

(अष्टमस्य प्र० प्र०)

(2)

अउ संखु अलि खसिइ उजो भिणि सारु।

(अष्टमस्य 2 प्र०)

(3)

वज्जहु सुरअ समुहु लोअण दंशन ए
अक्खरु भावु सहावु सुण विरावण ए
भावाभावविमुत्ति भाव विवज्ज विजाणिअ ए
भंजवि अक्खरु सब्ब अशेषु विचिन्तअ ए
दोदालिङ्गण सजोअए सलिला कज्जिअ ए
धम्म अदयाविअ सुपाचिअ मोदवि पाचिअ ए
सुह संसार विमोहिअ मोक्ख विवज्जिअ ए
सब्ब सुण्ण सहावे जोइणि मतविण विज्जइ ए
पञ्चवि जोइणि बुद्धतु लिखअ ए
सब्ब मोए बहुविहरु अमतु विपाचिअ ए
वज्ज सुसारिअ कज्ज धम्म विमोहिअ ए
णमहु सुरासुरु धम्म जोइणि मोखिअ ए।

(नवमस्य प्रथम प्र०)

(4)

पेच्छिअ एसो सोहिअ मण हि संवेत मेलु ।
 वम्मण कुक्कुरु चण्डालु एक्कु सहावे खथु ॥
 सागदु धम्मु अणग्धुरा अमला पतग ए (विगत ए) ।
 गहागाह विवज्जिअ पण महाकण्ण वज्जिअए ॥
 पणमह भाव विवज्जिअ णाहिअ अद्दु सु भद्दु ।
 दोंदालिङ्गण जोउणा विभूषिअ एण ॥ (नवमस्य द्वितीय प्र०)

(5)

सोहइ णिणलु कोहु तुहु समयहि सिधुपाणहि धरइ दंहि दंडमाणिक्कं लंभर
 तोज्जु पेच्छवि नीरु मेलु संसारु उत्तारु जालविदु वारु मेल्लमङ्ग जोइणि मज्ज ।
 (नवमस्य चतुर्थ प्र०)

वज्रावली

(1)

अक्खरु कारण्डरु असोहि आमन्त विसारु ।
 गणिअ असंख अलि क्षुसिज्जाइ ततु विसारु ॥ (प्रतिष्ठाविधि)

वज्रवाराहीकल्पमहातन्त्र

(1)

¹यदि अं वैरोचनो नाहं नाभिठि अमथ गुणजूतुउउ ।
 ओ सा सुगत्वजंतुहतित् जवनदीवोप मजुहउ ॥
 अन्यमतो सचरोपष्टमन्तो जावा संखावामग्राहनोभिन्नि ।
 सोहनो इमेथू इवरोमत्रोतिमणो जम इक्ष अन्नि ॥

1. इससे पूर्व एक श्लोक ग्रन्थ में दिया है—

मारीपुरुषकाले तु कुर्याभिश्चाक्षरं परम् ।

तत्र भूतमहाविद्या लिख्यंते भावनात्मनाम् ॥

यहाँ उक्त भूतमहाविद्या शब्द का इस गद्यांश से क्या सम्बन्ध है? भूतविद्या का कोई उदाहरण हमें आज तक मिला नहीं। अतः विद्वज्जन इस पर विचार करें।

पूण्णो द्वयभनिसं अम्भ इधीयनो मारसूजा वणोदाय णोहि ।
 यासाद्विमित्रिय चग्ध सनठि इउवीद अन्तो ॥
 वाहगोमहनवा इमाङ्ग इ ई अं सुचरनाहिवी अं ।
 अआरकहन्तो भरनोह सेसिक हरधिर इर वह भावनो ॥

यवर्ग यदि अंवी अंदरेणोतु अनगुणं जा इदसरभूसणोसु असरभूसणोसु अर पद
 अकक्षतिल सही अदियन्नो नन्दच उत्थइ । स चरणारो अनाहार इसनठि आच उसरगि
 होकहोहन दस हतु । करेल दलं देमिहि माभूस उमथ अराग हन्तो सहाव ।
 ज्ञानस्करोभिनिगुण अं सहारत राजमो अधउ धठ इउनोहोगहन संभोरुइ । धनविहिमायु
 इइउ सन्तसने इभीउ । फस हसंते इः पूण्योविमगि अमंधीति इजाल जूपूर इरं
 ददवोद्रोष्कहवचण्डावइपूविहति हुयण वाहिचित्तहइ ।

आ इठिइ वैरोचनासह । उधर्मधातुकाजहरुवइ । तमसनठइ उपनचः उपखर ।
 पनरसेच वाघिनभ हविस्मज्जू नवरुअं । पहदंते वीदेउ सजूत्तदे । मोअना सइ जूधविंदे
 फलन्तदे । तसूपूनवर्गहभी चन्द्रे चतुषुति जुयनवोप इजूविनिस्म । यहइत्सेतिह सूड ।
 गहनचदेकारण्ड त्रायण चक्षुवेहि वीषु जघहंतो । पनचह यदि अंत तथहवीडे । इसर
 मथहरघइ । जारह अकखरु । संठइउ । सठहकारण्ड भाद्रे । यवर्ग इमजठि अगहनइअं ।
 रयहन उसहन जत्त ॐ । जाहरदेककर्मविशेसू । वर उचीउ । अआरकन्न इलगू । इजुतिजूवन
 जोन सदा उपमेजु । अग्नि अवीडेभिन्नि सरजत्तऊं संसरहवाम इसहाव । सवरो
 इसरगलगसेस । सधोभह मसहा इदिम्भ । भिन्निसरगदि अइअभं । ठावणिरुअसत-
 उदारणोजिम्म । जाथ इन्द्रोरजूनतो । अंसरपूरो एभ इधात हतिन्नि । हहतोजून्न । डठ वग्ग
 सपदि अं जुविनि नतो । सयल सरुअ । रठइओ असुरजुतुमरहदूठ सत्तकारणतुतु ।
 जआरोगेहिगहि अइ । इसर मायाइ । भाइसजुतु । दत्तदेवी ॐ एसरहलग्न इकन्नहभिन्न ।
 रोअमहंतु अभाडोकरजु इधासतुयोन विशेसोनमस्तु लडाजुत्तडोलो अहधारु । वा
 इलिकारनूधम्मू । कप्पूवयसन जूत्तडो । नतुमरणो सहाडो अभिन्न पदंतो सरअसंठ इओतिजु
 अनमाति सरुवातस्करु एआउसि अडा । सुह अवइडो । पूण्डपहत्तो मज्जू सहज सअरु
 अपमाण्ड । स चरो इजुषुत्तडा वज्रसतु अनाहजोम । इसरजुतद्रज वग्गदन्तो विइनथइउ
 अजोन सरुअ । द्यमन्तोधर्मसदा इवपइस अरसभ । असआरोवहइरन्द । वहठकंडोर-

विजुगुडो। मअरेद सहाडोमतु। पच उन्दहि अडोसरज आरन्तइ। भजहनट अडो। तमंतो नासतु। पूनोपसच उत्थ। पउउरवरचइ। पहनहवीडो अकरणदलधुमंतोनदमनन्द्रे। अपउगहन नूगह इदामाइरुअ। सवरोए आरक्षतु होहेति उतिजयन भनति। पहनतो इमज्जसरू असचरो अआरजुतुओ। विसमित धम्मू। जवग्ग सहंतो इपमह। अस्करुहावोच वग्ग समज्ज वीडो। एआरुत सुपरलघु। देवसूरहसदाच। एवं मतोड्यपहद। जुजवनचिंदडोसम्भ कम्मसरु-
(प्रथमपटले)

(2)

यवग्गहंतो इवाइसहाडो भिन्निजि अंसूरहजुन्तुडो। अरसपूति अडोजो। अनमंतो। साठइ अअचल उअ। नयजूई स अउओ अनमित्त। आठिइ असरापहि अंगुणभावाभि-
जिहोइसरम उत्रहरघाति हवन धाय सरुवगत एषहजुवइ। पहनवग्गपन्नि अक्षवनततु सरुप। इयस्म चउत्थावि अविडो। सं अलइना असहाइ। अः ए अयति अं भूनवहकसि अओपूक्कधात अहोभिन्नि वग्गट इजून सूमण्डि अओ। नाहिइकूण्ड तधर इकूण्डतु ओजवनहा इथ अनाडुओ अआर मण्डि अओनाहि। इकूण्ड इठि इडि। यदन्तो इमं मरुटो। टर्दता इकन भावओ। इमण्डि अडोविसोसनि असंताय अडो च अनंद सरु अमहानिहि वीव। नहडो आरडोसि अअं। रुद्धनइ सहावइ। ससभिन्नि वीरु। हयहडोनि आर.....चहगहि अकाजूवणितण्ड हरुअ। ओसंवावहइ अस्करु। धूललंहरहर भावई। तपजठि आडागहइहवन विन्द। इकअक्षपइ सहधना इनिरुअ। तइह इइआरअसि। अद्रोगहल कपइमज्जना इनिरुअ। कगह अडो कम्म शदत्तइसाउ। च अआले अइ ओसिरयि मज्जं महारा उसूज्जना अतिरुअ। कगहइ अओ कम्म शदत्तइसाउ। पाथि अचिडोइ आरजू च इति कनहमर्जि। तदंतइनिन उद्धइ ओसि अओ। तव असंजोवइवी जोधम्म धाइकोन ओतिजन यत्र अंति भगहि अइध इनि सह सूक्कं। न इजू अइ जीनददाओ। यदंतइ अंसस। इ अ ओमा इनि। रइयहइ अओकन्न सदाइ। टदंतो वीओ। इजुत्तओ निनिहि भिन्न सत्तगदत्त इनाह। एव अदि सयउमत्तो। चउजूवहयमान इसस्त्र।

ययू वइ हर। इ आसनू। अपहति अधमू। भगचउपस्थिअओए आलकेण्णां भरलाजू वनमंते। तमजठिअओआ जओ अथ। न इसजू अइनिम्मदि विस्मदो। पपन्फू सह अंओल आलइ महइ ओजू इन चक्षवंतु। चमज्जगह इषू ओजजेह अरुषू। पचअसंदओ

एसमजंतु। अहआरु सहाओ। यवनदत्तोइ इति निवानसिरसिअओ विस्महमंत इजानसेरुअ। जविओ उक्तलू अनन्तु। यवनू एइजावू। सकृजीन इदिइगु। चवघ इति इजवी ओजभेद जुइनरु आवोअ। यइन्तो च उत्थहि अआहनू। गुरवासइजइलात मत्तोतिम्वारजे अओनि सह सिवोहनरुअ। असदा मसतीण्णांत आह नूइ। तमह वइ सजरलोअ। भगहइ अओन्तु वहचउशदस ओरुअ। मिमन्तो जूवन संकिइ अतअ। पंहंतो इओआ सूमूदअ लघू। मोक्षरु अअजन इवित्सेइ सवरो वज्जूसंत सहा अवमि आमूधम्मा अधमूनिसे अओ यवरहन्तोज। इनि अंभदरुइजलहासन मंतु। उद्वइ सूक्काचहाइपूनो यवनदत्तइ। अआर ओदजओ। वम्मइरु अपस्माओ। रयइ अजुग अष्टवजु ओरु। सवरो तिनि वामसिर संष्टइ ओजू वनि सयलइ। नावह इरुअ। मालाइ मज्जतत्तइरुअसचरो आअरुमशिअं। क्तचनिरु अमू उदआरुइ। पञ्चण्डदेओ मूकत मण्डिअ ओसज्जरु अउसहावइ। कमर्ज अउइ अयोनित्रिवाणसिरसइ ओतत्तगि असरुअ। निकरोमि सहावइ जानू। भिन्नि वग्ग पहइअं। अआरदइअं। काइम ओधाओ। यवनहंतोइ एजुक्न्तु ओसयल इमहइसहाइ। अन्धधी वदन्तो अयवन हन्तइ। आहेनूसूक्कवा अओ अभिन्न। यावट् इउ इवीडे इयिमथ अद्वसिज्जस्तु साहकरु अओ कहि विदे अक्कसू जूवन विंवू। अउत सूमासवीओ एआर कण्णाहरोमच्चलूइ कल्ल। एअश्च क्वगम सहाओ। नरपह अजू अरविदे इप्पारअ। संत्तरु इतिहाक।

(द्वितीयपटले)

(3)

तमन्तोइ भिन्निसोजहाय। इ अग्निपवनवीओ मइसूइराओ। तस्माभिन्निवीओ। अआर मूनई ओमनदह च उपा उसरु अअइ। परहो अजग इसूष्करु। पदमसहाइतिम्वि। तअअं जूइ पूण्णा वियोनदवीओ। दमङ्गः इडोएकं गोहरणो इज्जइनि सूदसरंअ। पूनोविभनि अभंग जनिअपाइ अभिन्न। सवरानमंतो पूनोविभनिअं। उदसि सहगहरुअ। परक इक्कूवीओ यमन्फतं हतोइ अजूत्तओ। अदनदोड अन्ति। तहअइषू मद्दिन्तु। काकनच्चिअओमिन्निज इविन्निभं जूइनि संसोअन्। तथश शनतिम्विचि अडोनित्रिवानति जूमहइ। न चन्द्रहि उरुअ। पूनडोमत्तप उभिन्निभशिमा अमोअ। सचरोमादओ वधू। इवग्ग इमूतिन्नत स कथइअं। एआलकण दहरणोत्रा इनिमत्तोअ। अअरुधो अत्। समइअ। सामयमंतपक्ष भिन्निभशिअ। इओजन अडकारुणतु अइवो अनितंतु। एवं हदिसपइ भूमहजू इवइ कम्मसरुअ।

कवग्ग विन्निषिओजुवणि जलंतु तगह इअ । यदंतो सनू अंसर मूअ ॥ डमण्डि
अओ अआर इपूत्री इअ तस्मा सगह इअ सहाइअओ । कमर्जन्तुइ अवीडो ॥ विस इह इअ
लग्ग इमन्तुक वीअओ सून्न सूरुअ । हरत इअ । अआरपूत्र इअओ अग्निजालइसानअः
धरइवीओ चरइमउपउ ।

नचउत्थथि । अओ असर इभूस इअओ ।
भवर इरु अरय इइ सजूअ विआरु ।
ठहत्त इगह इअ विओति ओतिश्लिवारसिरसि उसे अओ मुरु इतिज्जयण सह ।
यदंत इवीओ मनन्निनाओ किअओ ।
सचरो अआरुवचदजूभज्जइ मंतु अआलू ।
मभिन्नि होन्निभनिहं हरहरइमो असहायअ ।
य वीओ इमण्डि इमण्डि अओपि अवन संभतथअगहनन्तु ।
स आरु इजूत । इसिहभणइ अमीत ।
तमंतो इपूनु अमर ओअंति ।
पहंतो अआर इभदअ विडमउ ग्रह लग्घू ।
कूविसमर इपपास आरोभिन्नि सर उस इअचारइ ।
पूम इति पत्रि अरु सच्चइ अओ वीओ मसानू ।

तदंत इअष्करु इजूत्त इओनिस्सहा संभवदंतो इअरपून्नि अओ मनादूसच्च इमहहनू
उनअ स अनूउपठ इविअक्क । सवहइहभन्नि वीडे आलगुमेस इचिं तव्यइओ साव ओइ
अपह अहानू ।

तच इहइक्क खलु भूयन मन्ति वीअनू ।
पर अवीक वीओग इय सइद्वे अउअविद वणोसू ।
यमत्त इदसर क्रम इअओ ।
यण यन्तुनया सच्च इओ विओ ।
एकण्ण हरणा जून इजाउनासू ।
स आपुत्र इआओ ससउउ केनयहू ।
नमंत इतिन्ति वाणसिरह ओस इअओनिवन्नि अधम्म अधम सरुअ ।

धयजोव इधान अमत्त सरु असहाअ ।
 तदत्त इगहइअओ न इभाइ यवन इवित्रिवे ओजालन यमो अहाउ ।
 सआरु इसराभिन्न अओ सिंहमेहि सअआसू ।
 रइसत्त ओसअस्सूजू इणि रज्जू ।
 पदत्त इअहस इका ओमाइर इसभस्सन्तु ।
 धनइ वीओ सऊसइ उऊअरलद्धतंत्र जानू एवं पअचउअद्दसह मअरत्तु सप्त सत्तह
 ले अजानू । (तृतीयपटले)

(4)

कमज्जवेडो रससन् । अग्नरजाव निधम्मति अआत्म वित्रिसत्थओ ।
 तस्य वित्रिष्वलु इसरज्जू उओजूथित उजूओउन्न ।
 त आरुवो अनोत वह हस्म । च उत्थि अअपूत्र इअओ ।
 धाअनूवो इअनन्तु । रविण्णातित्रिवाण उसिअअं ।
 सकल इजू इनि हदद अओण मन्तोई इउस अओजूओ जूवसग्ग ।
 संभनिमत्तप अउभिन्निभेनि अहं ।
 डय य उवाहन तन्तु ।
 तथो सूंभे मन्तुजू वनिधूससरुअ ।
 हमन्तो भिन्नि भण अइषूदह उजायरिनस्म ।
 षरअ एक्षू कुखरूइन्दज इउसस्म सहावइ अन्न ।
 न अअं पूण्ड एशं वीअइ गुणाहइ मन्तो ।
 स आरुस अइना इनिसंद ।
 चरसइ अओपमंतु मय्यअइ ओगइ नस्म ।
 स आरु सच्चइ अओ सवरुअ ।
 यदत्तो इयूर अआओ वादपच्चणि अजानू ।
 न आरुमंतई आयु अइवो अनकप्य इकोवितिल उत्थदि ।
 पहतइ वीओ महमधूरु इसअचरो ।
 अपूरइ अओ जूवनविंदप आनूइ ।

पदत्तइ अअं सेरओ मूत्र मण्ड अओ समहो ।
 धून्मू इसरुडास अरुसम्मू अजान इति गअ ।
 च्छेमंतु वासत्तगे इओ अअंति तमज्ज ।
 इअओवीओ दनभा इनत्थान इसजो इनिस्मसला अमरन्तु ।
 कोमन्तो कूर्म्म ससाच्छेतुअं ।
 एवेओ धलनू सभं हइ सत्तद इति मपाचू ।
 सू वीओ सूडउलो असस हकंमू ।
 एअंत्तमध च उपइ मंतु चच्चूनाद इअउ अत्ति ।
 इच्छ ईज इज इजूइ अओ कूर्म्मकम्म ।

तिमत्तो इस इज अरुअ उपेकम्मविसे सह ॥
 सभचक्क दखकरो इनी मंतुनजानूकं मूसहाओ ।
 मतुदा सन्तु मूत्र इमंत्र ।
 कन्नुसुभाओ सीहेउक अदिअस ।
 अग्नमइसि मन्तु उद्यानु सयूअ ।
 सअसेसिर इमन्तुः सवर इरू असत ।
 सभाइव इमंतु अष्कर सरी उरुअ ।
 संभृसइ मन्त इइच्चुकु ।
 वाइन मंतु मरउठ अतिं सहाओ ।

(चतुर्थपटले)

(5)

हमननइ मंतु विसहरु अस्मल अणं ।
 जालइ तजासइ मंत पडामनइ विस ।
 उजालह मूदियऊ कजह विस्मओ ।
 पिग्ध अलोज्जामो मंतु चष्क विजानू ।
 वज्जसरेरउ इमं तप उकज्जह विजान ।
 वज्जा अआहर मनोघान विस्मउल अणम् ।
 मिलइत पउद्यातन विजान ।

विलिए मतु सरजात विस्मउ ।
 हेमकभिन्नि भणिअहम् ।
 सद्दविस अओ सद्दह ।
 सरजातभिन्निइ विजान ।
 एअं मत्तप असतुक्का अधइमिस्मओ ।
 सभं हसरणरु अतंतु ।
 सवरोष सरे आहो ।
 खंडेन्दू विंदमूअड मण्डिइ ओभिन्निमनि अहं ।
 वज्रसन्तु इह इअः ।
 अखभिन्निरहिन्निमुरुभिन्नि कमहभाओ ।
 प्रआणइ सम्मअ अधत सह ।
 अज्जुइति यदि असिद्ध इयमत्तपउ सअकाअरुस ।
 उद्धभिन्नि पउग्रं भिन्नि पउ भिन्नि पउ ।
 कोद हने उअष्करइ जमधिदोदकं ।
 पवच्चस्मर उत्थवीओ असिरहलग्नउ ।
 मेसमत्तेस उत्तहसद्दि सहावदोइ ।
 एअंद्ध दस्मउमत्तपउइ सउत्तम अनिअणं ।
 सहह वीर एमत्त पओ तथअवे अगुणअभ ।
 इनत्त वखन वारार चवीव इहो अक्कू ।
 क्षभिन्नि अहं सतु अष्कर इस्मत्तथा इहचम्मदि ।
 त्रिलोअनासनिइ समंते दूयूकवाचिअइ ।
 सत सहस एकनाटइ तथकागह ।
 पर इवा अन इतत्र ।
 सवरअइ उसरइ मअइ ओड ।
 खंडिंदूविंद उस अओ एअं उसहरउ इमत्त ।
 सअलहद ऊअं एअं मत्तपउ चउरइ ।
 जुवणि उअत्ति अजअसिद्धइ ।

(पञ्चम पटले)

(6)

पुनोभि सवरोमश्च पाणपासच्च आसनो ।
 खण्डिन्दूविंदू ओसणोविहिणोभत्त ।
 वीओ पापसत्त इवी वीओ ।
 पटार इजूइतिजानू ।
 हअर उदीवनो मंतु सिंहरु अए खलू मत्तपउविनाय कूविधस्सनो अइगजरुअ
 यगमत्त ससत्त विकर्ण अओ ।
 त्रैलोअउदरए पउवरइहधूइ सअलूउ अत्ति ।
 समूउले अचगह भिन्नि पपउ मन्तु ।
 साजरुहउ मत्त अमउ हू फ वारु वाइनिय भूअ ।
 वीर दैतए हूँ मत्तपदपकत उअंति ।
 यउभि अणं एअ संत्त पउ मत्त सकम्म ।
 अजानभोम उअत्ति मन्नहाई ।
 हूँ हा भिन्नि महापसुनो अनइ ।
 पउ ससन योग एसर इत्त मत्ता सांति रुअनि ।
 वाइनीला अनोवद्धन ।
 इपउवा इतिता नालाअ ।
 सत्त कम्म हूँ फट् मंत पउ चउष्णी अहसइ अओ ।
 भूतत्तासन इउती थओ जानना सअइ ।
 एअ संत्तमत्तप इभनि अकमकरई ।
 पहन्तो सवरा अंजुतो इयहंतो ।
 इसजुत्त उग्रओन हेतोरे ओपहन्तो ।
 सिद्धेपद्रविद्ये पडे स्वरिमंतो ।
 यपास उट वीओजु खण्डिन्दू विन्दओ सन्नोपूणो विभनि असम् ।
 पपास दइ उत्तअरो हूँ फट् वाहीसावो इसअउ ।
 एअ मंतु नाभि अई उअविहि नाओ सहक अउ ।

एकैकस्यापि तत्तन्त्रे यथावदनुपूर्वशः ।

इन्द्रय विसर्जनदिस्कदउ ।

नतुअनइ सहस्थान हइ ।

सन्तुपपचु भाअगह्य ।

अओक उइ मोहमोपम नृपति स्म ।

(षष्ठपटले)

(7)

रम रम परम महासुहासुह वज्रप्रज्ञोपाय इसिज उकज्ज लोअण करूणा
भावहुत्तुस्मर अल सुरासुर बुद्ध जजिम्म । आराहि अमह सूहिवा धाहि वज्जहरा इके
सूनसहाहि अआ छसितुम् । रायवज्रषम्मे अजु इनिवाह इजिमहे सुनसमाहि अ अ उ इ
तुम्मे जारहितुस्मि पतु चतु के उवीयो अ ।

उवति चआलिनि वधूइ सज्जअ ।

तिहु अनदह इनदिस इकाह जलतिजलतिनिवाता सरुअ ।

डाइनि सहजरूइ आनन्द इजरणम रण पडिहासनहि सइ ।

इवोहिकार हुचित्त जिनमाहई ।

सत्तधाउउतार हुमाइ अइ ।

(सप्तमपटले)

•

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय

—ठिनलेराम शाशनी—

[प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों और उनके विविध अर्थों का संकलन किया जाता रहा है। पूर्व के दो अंकों में नये तन्त्रग्रन्थों के अभाव में इस शीर्षक के अन्तर्गत सामग्री देना सम्भव नहीं हुआ। इस अंक में Francesco Sferra द्वारा सम्पादित ग्रन्थ अनुपमरक्षित विरचित षडङ्गयोग एवं रविश्रीज्ञान विरचित उसकी गुणभरणीनाम षडङ्गयोगटिप्पणी नामक ग्रन्थद्वय से पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है। सम्पादक महोदय ने उपर्युक्त ग्रन्थ का विविध पाण्डुलिपियों से पाठ-संकलन कर विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका सहित भोट-संस्करण का सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद तथा विविध परिशिष्टों के साथ रोमनलिपि में रोम से प्रकाशित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ रोम स्थित “INSTITUTO ITALIANO PER L'AFRICA E L'ORIENTE” नामक संस्था से, वर्ष 2000 में The Śaḍaṅgayoga by Anupamarakṣita with Raviśrījñāna's Guṇabharanīnāmaśaḍaṅgayogaṭippaṇī (Text and annotated translation) शीर्षक से SERIE ORIENTALE ROMA-LXXXV में प्रकाशित हुआ है।]

अकुशलकर्माणि (दश)

प्राणातिपातः सत्त्ववधः। मिथ्येत्यनृतवचः। अदत्तेति परद्रव्यापहरणम्। परदारेति काममिथ्याचारः। रूक्षवचः परमर्मोद्धाटनम्। पैशुन्यवचः क्लिष्टचित्तस्य परभेदवचनम्। संभिन्नवचः कामाद्युपसंहितस्य हा है हे हीत्यादिरागजनकं वचः। अभिध्या परद्रव्ये विषमस्पृहा। व्यापादो वधचित्तम्। कुदृष्टिर्नास्तिदृष्टिः। (ष० यो० टि०, पृ० 89)

अक्षरः

अक्षरेण परमाक्षरसुखेन। (ष० यो० टि०, पृ० 81)

अखिलसुखम्

अखिलसुखं परमाक्षरपञ्चकामोपभोगसुखम्। (ष० यो० टि०, पृ० 76)

अचलसुखम्

कायप्रसन्न्यादिसुखमचलसुखम्। (ष० यो० टि०, पृ० 105)

अद्वयम्

द्वयं नाम संसारनिर्वाणचित्तं न विद्यते यस्येति अद्वयम्। (ष० यो० टि०, पृ० 94)

अनुस्मृतिः

...अनेन च अनुस्मृत्यङ्गमुक्तम् । तथा च—चण्डाल्यालोकनं यद् भवति खलु तनौ चाम्बरेऽनुस्मृतिः स्याद् । इति ॥ (ष० यो० टि०, पृ० 75)

धारणाप्रतिष्ठे चित्ते स्वरसतो दशविधधूमादिनिमित्तप्रतिभासपूर्वकमुत्पन्नमण्डल-
देवतादर्शनं प्रतिबिम्बाकारं निर्विकल्पकं, ततोऽनेकरश्मिस्फरणं, ततो धातुत्रये देवताचक्र-
स्फरणपूर्विका चिन्तादिदशकामावस्थालक्षणानुस्मृतिरिति । (ष० यो० टि०, पृ० 105-106)

अप्रतिष्ठितनिर्वाणः

रागविरागपक्षाभावादप्रतिष्ठितनिर्वाणः । (ष० यो० टि०, पृ० 104)

अमृतकुण्डली

ततोऽमृतकुण्डलीबिम्बसंज्ञया सन्ध्याभाषान्तरेण वायुरुक्तः, स च पञ्चप्रकारः । तथा समाजोत्तरे भगवानाह—

पञ्चरत्नमयं श्वासं पञ्चबुद्धैरधिष्ठितम् ।

निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे विभावयेत् ॥ इति ।

इह पञ्चरत्नशब्देन रसनापञ्चमण्डलधर्मिणः पृथिव्यादिपञ्चधातवः । तन्मयं श्वासं पञ्चरत्नमयमिति सव्यनासापुटे । तथा पञ्चबुद्धा ललना पञ्चमण्डलधर्मिणो विज्ञानादि-
पञ्चस्कन्धाः । तैरधिष्ठितं श्वासं वामनासापुटे इति । निश्चार्य पिण्डरूपेणेति । इह पिण्डं सव्यावसव्यमण्डलानामेकत्वं मध्यमायामवधूत्यां प्राणवायोरिति । तं च प्राणवायुं निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे विभावयेत् । अत्र नासिकाशब्देन नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषकमल-
कर्णिकोच्यते । तस्याग्रे भावयेन्नासिकाग्रे भावयेत् । कर्णिकात्कर्णिकामध्ये न सव्यावसव्य-
कमलदल इति । एवं बिन्दुस्थाने पिण्डरूपेण निरोधितः प्राणः । तेनैव तस्य धारणोच्यते ।
एवमङ्गद्वयेनोपसाधनममृतकुण्डलीबिम्बेनेति । (ष० यो०, पृ० 132-133)

अमोघसिद्धिः

खड्गी अमोघसिद्धिः । (ष० यो० टि०, पृ० 101)

अरणः

मारक्लेशविकल्पापगमात् विद्यते रणः शब्दोऽन्तर्बहिर्जल्पः प्रक्ष्वेडितविमुक्त-
सिंहनादसंग्रामो वाऽस्येति अरणः । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

आदि:

आदिरकारादिस्वरसमूहश्चन्द्रः। (ष० यो० टि०, पृ० 81)

आरोलिक्

आरोलिग् अमिताभः। (ष० यो० टि०, पृ० 139)

उत्पन्नक्रमयोगः

उत्पन्नो निष्पन्न आकाशभावनागम्यः, तस्य क्रमो धूमादिमार्गः, तस्य योगः प्रज्ञाबिम्बेन सहाक्षरज्ञानोदयसंग इति। (ष० यो० टि०, पृ० 84)

एकयोगः

एकयोगोऽद्वययोगस्तत्रैव स्वचित्त एवेति। उक्तं परमार्थसेवायामपि—

काष्ठाद्धविस्तोयमपीन्दुकान्ताद्

दध्ना घृतं लोहकुलं शिलाभ्यः ।

स्त्रीयोनिस्झादविनष्टसौख्यम्

गृह्णन्तु योग्यास्तदुपाययोगैः ॥

चित्ते न कश्चिद् भवतापनीयो

न क्षेपणीयो न च हानिवृद्धी ।

चित्ते स्वचित्तप्रतिभासमात्रं

त्रैधातुकं तोयगतो यथार्कः ॥ इति ।

(ष० यो० टि०, पृ० 84)

कादि:

कादिः ककारादिव्यञ्जनसमूहः सूर्यः। (ष० यो० टि०, पृ० 81)

कायनिष्पत्तिः (बिम्बनिष्पत्तिः)

ततः शुक्रादिग्रहणात् तस्माद् बिम्बोत्पत्तिर्नाम सप्तमासैर्गर्भनिष्पत्तिः कायनिष्पत्ति-
रित्यर्थः। (ष० यो०, पृ० 99)

...तस्माद् बिन्दोर्विश्वदर्शनं बिम्बोत्पत्तिः। (ष० यो०, पृ० 100)

कुलिशकमलम्

कुलिशकमलमुष्णीषपद्मम्, तत्रोदितत्वात्तेन कुलिशकमलजेनामृतेनाच्युतेन बोधि-
चित्तेनेत्यर्थः। (ष० यो० टि०, पृ० 98)

क्षान्तिशीलः

क्षान्तौ शीलं फलनिरपेक्षा स्वाभाविकी प्रवृत्तिर्यस्य स क्षान्तिशीलः।

(ष० यो० टि०, पृ० 95)

खेचरत्वम्

खेचरत्वम् अकनिष्ठभुवनपर्यन्तम् आधिपत्यं प्रयाति। (ष० यो० टि०, पृ० 109)

गुरुः

गुरुर्बुद्धो गुरुर्धर्मो गुरुः संघस्तथैव च ।

गुरुर्वज्रधरः श्रीमान् गुरुरेवात्र कारणम् ॥ इति।

सद्भूतगुणोद्भावनपुरःसरमविपरीततत्त्वोपदेष्टारं श्रीगुरुं...। (ष० यो० टि०, पृ० 76)

चिह्नविशुद्धिः

चिह्नविशुद्धिरुच्यते—चक्रमित्यादिना। त्रिभव इति समन्तान् मोहितानां पाचनाय वैरोचनस्य स्वच्छं चक्रम्। अस्यैव त्रिभवस्य सुखार्थं रत्नसम्भवस्य रत्नम्। निरावरण-संज्ञाधर्मेण रागिणां महारागहेतोरमिताभस्य पद्मम्। क्लेशक्षय इति अमोघसिद्धेरसिः। अभेद्यकाय इति अक्षोभ्यस्य कुलिशम्। अज्ञानस्य च्छेद इति षष्ठकुलस्य कर्त्री। एभिः षट्कुलैः खमिव समरसा निर्विकाररूपादिस्वरूपाः। उक्तं च—

एकोऽसौ वज्रसत्त्वः प्रलयघननिभो हेरुको वै बभूव
रौद्राणां पाचनार्थं स च समयजिनो मोहितानां सुखार्थम् ।
रत्नेशो दुःखितानां स च कमलधरो रागिणां रागहेतो-
र्विघ्नानां ध्वंसनार्थं त्वसिकरकमलोऽमोघसिद्धिर्बभूव ॥

द्वेषाद् या विश्वमाता प्रलयशिखिनिभा डाकिनी सा बभूव
मोहात् सा लोचनाख्या परमकरुणया मामकी मानहेतोः ।
रागात् सा पाण्डराख्या सकलगुणनिधिस्तारिणी चेर्यया सा
एतौ द्वौ विश्वरूपौ विषयविषयिणोऽन्ये च सर्वे बभूवुः ॥ इति।

(ष० यो० टि०, पृ० 140-141)

जिनजिक्

जिनजिग् वैरोचनः। (ष० यो० टि०, पृ० 139)

ज्ञानयोगः

वज्रमुखे बिन्दुसंदोहाच्युतेन ज्ञानबिन्दुर्निरुद्धो ज्ञानयोगः। (ष० यो० टि०, 109)

तत्त्वध्यायी

परमाक्षरज्ञानभावकत्वात् तत्त्वध्यायी । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

तथागताः (षट्)

निःस्पन्दानन्दशुक्रं कुलिशमपि च तद्धारणाद् वज्रधृग्वै
बीजं कायस्य शुक्रं जिनजिगिति पिता नाभिचक्रे सुखं यत् ।
तल्लक्ष्यं लक्षमाणो हृदि परमसुखं नाथ आरोलिगेव
तद्वेद्यं येन कण्ठे धृतमचलसुखं वेदको रत्नधृक् सः ॥

प्रज्ञाधृग्येन तन्त्रे शिरसि धृतमिदं शुक्रवैमल्यसौख्यम्
उष्णीषे ब्रह्मरन्ध्रेऽक्षरपरमसुखं षोडशानन्दपूर्णम् ।
या प्रज्ञा निःस्वभावा परमशशिकला षोडशी पूर्णिमान्ते
सानन्ता यस्य विद्या शिरसि सकुलिशे षष्ठमो वज्रसत्त्वः ॥

(ष० यो०, पृ० 139)

तारा

प्राणायामे बहिर्निर्गमाभावेन धारणाङ्गस्फुटीभावेन निरुद्धे सति निर्विकल्पसहज-
चण्डालीस्फुटीभावाद् बुद्धबिम्बाद् विश्वबिम्बाद् विमलशशिमण्डलं निर्मलप्रभामण्डलं भवति
जायते लौकिकेर्ष्याक्षयात् । सा च तारणी । (ष० यो० टि०, पृ० 138)

त्र्यक्षरयोगः

त्र्यक्षरयोग इति । गुह्यगतश्चित्तबिन्दुनिरुद्धः । नाभिगतो वाग्बिन्दुनिरुद्धः । हृदयगतः
कायबिन्दुनिरुद्ध इति । (ष० यो० टि०, पृ० 109)

दिव्यमुद्रा (चतुर्थाभिषेकम्)

उपायस्य क्षरसुखं द्विधा बालः प्रौढं च । प्रज्ञायाः स्पन्दसुखं वृद्धम् । तेषां परं
लोकोत्तरम् । तथोः प्रज्ञोपाययोर्यदा निःस्पन्दं भवति, तच्चतुर्थं दिव्यमुद्रोद्भूतमिति । वज्रधरो
निर्मितकाय इत्यर्थः । (ष० यो० टि०, पृ० 111-112)

द्वादशभूमीश्वरः

निर्विकल्पकज्ञानप्रकर्षावस्थाविशेषा भूमयः । तासामीश्वरो द्वादशभूमीश्वरः ।

(ष० यो० टि०, 76)

प्रमुदितादिज्ञानवतीपर्यन्तद्वादशभूमिलाभाद् द्वादशभूमीश्वरः। (ष० यो० टि०, पृ० 100)

द्वादशभूमीश्वरः (भूम्यादिचक्रषट्कशुद्धिः)

एवं च प्रतिचक्रं भूमिद्वयोपलम्भक्रमेण द्वादशभूमीश्वरो भवति। तथा हि गुह्यचक्रे षट्शताधिकत्रिसहस्रश्वासोच्छ्वासनिरोधेन प्रमुदिता-विमलाद्वयम्। नाभिचक्रे तथैव निरोधेन प्रभाकर्यर्चिष्मतीभूमिद्वयम्। तथैव हृदयाब्जे सुदुर्जयाभिमुखी भूमिद्वयम्। कण्ठपद्मेऽपि दूरङ्गमाचलाभूमिद्वयम्। ऊर्णाब्जे च साधुमतीधर्ममेघाभूमिद्वयम्। एता बोधिसत्त्वभूमयः पञ्चद्वयान्येव। तथैवोष्णीषचक्रे तु समन्तप्रभा बुद्धभूमिज्ञानवती वज्रधरभूमिश्चेति एतद्द्वयम्। एवं च षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रश्वासनिरोधेन त्रिमलविरहितः कायवाक्चित्तवज्रो द्वादश-भूमीश्वरो निर्विकल्पधर्मदेशको बुद्धो भगवानिति। अनेन क्रमेण षडङ्गयोगसाक्षात्कारेण भूम्यादिचक्रषट्कशुद्धिर्दर्शिता। (ष० यो० टि०, पृ० 138)

धारणा

धारणा गुह्यनाभिहृत्कण्ठललाटगत्यागतिमुखेन बिन्दौ श्वासनिरोधलक्षणा।

(ष० यो० टि०, पृ० 98)

क्रमेण वायूनामपचयाद् बिन्दौ बोधिचित्ते चित्तवाहनस्य प्राणवायोः शून्यतैकरसं निवेशनं धारण्येत्युक्तं भवति। (ष० यो० टि०, पृ० 105)

ध्यानम्

ध्यानं प्रज्ञातर्कविचाररतिनिश्चलसुखलक्षणम्। (ष० यो० टि०, पृ० 98)

नपुंसकजापः

नपुंसकजापोऽवधूतीगतत्वेन प्राणप्रत्यवेक्षा। (ष० यो० टि०, पृ० 121)

नाथः

जगदुपसेव्यत्वान्नाथः। (ष० यो० टि०, पृ० 76)

निमित्तपञ्चकम्

एवं प्रथमं धूमादिनिमित्तम्। द्वितीयं मरीचिकानिमित्तम्। तृतीयं खद्योतनिमित्तम्। चतुर्थं प्रदीपनिमित्तम्। पञ्चमं निरभ्रगगनसन्निभं निमित्तमिति समाजोत्तरे डाकिनीवज्रपञ्जरेऽपि भगवतोक्तम्। (ष० यो०, पृ० 126)

प्रज्ञोपायभेदेन मुख्यतः पञ्चधातुविशुद्धिरूपाणि मरीच्यादिपञ्चनिमित्तानि श्रीसमाजादौ प्रतिपादितानि। आकाशधातोरपि तन्त्रोक्तत्वात्। उक्तं चाष्टादशपटले—

अप्तेजवायुपृथ्वीगगनं च सर्वान् ।
तान् बोधिसत्त्वसदृशान् विपुलान्मामि ॥

इति पृथिव्या अम्भसि लयनान् मरीचिकाकारम् । अम्भसस्तेजसि लयनाद् धूमाकारम् । तेजसो वायौ लयनात् खद्योतकाकारम् । सूक्ष्मधातोराभासत्रयगमनादीपवदालोक-
पुञ्जरूपत्वात् तद्दीपाकारम् । प्रकृत्याभासलयनान् निरभ्रगगनवत् सततालोक-रूपत्वान्
निरभ्रगगनसममिति पञ्चधा निमित्तानि । उक्तं च—

प्राङ्मही सलिलं गच्छेज्जलं गच्छति पावकम् ।
पावको वायुमन्वेति वायुर्विज्ञानमाविशेत् ॥
विज्ञानं धारणाङ्गत्वं प्रभास्वरमथाविशेत् । इति ।

मायाजाले दिवायोगेन षट्स्कन्धविशुद्धिरूपाणि षणिनिमित्तानि गगनोद्भव इत्यादिना
कथितानि । श्रीमदादिबुद्धतन्त्रराजे तु विषयेन्द्रियप्रज्ञोपायविशुद्धिरूपाणि दश निमित्तानि
मुख्यतः प्रतिपादितानि । (ष० यो० टि०, पृ० 126-128)

निमित्तम् (त्रिधा)

निमित्तमपि त्रिधा । आदिनिमित्तं मध्यनिमित्तमन्तनिमित्तं चेति । आदिनिमित्तं धूमादि-
मार्गः षडङ्गयोगेन बिम्बनिष्पत्तिरक्षरक्षणलाभः । मध्यनिमित्तं परमाक्षरक्षणैरष्टादशशतैरादि-
भूमिलाभः । पञ्चाभिज्ञा दृष्टार्थसंदर्शनं लौकिकसिद्धिप्राप्तिरिति । अन्तनिमित्तं बुद्धत्वं वज्रधर-
त्वमेकविंशतिसहस्रैः षट्शताधिकैः परमाक्षरक्षणैर्द्वादशभूमिलाभान्महामुद्रासिद्धिरिति । एतद्
वज्रपदादिकं निमित्तपूर्वकं प्रकटं तन्त्रराजे परमादिबुद्धे भगवता देशितम् । (ष० यो०, पृ० 144)

नीतार्थामृतसेवा

नीतार्थामृतसेवया परमार्थचतुर्थानन्दपीयूषप्राप्त्या... । (ष० यो० टि०, पृ० 79)

नेयार्थः

नेयार्थो यथारुतोऽर्थः । (ष० यो० टि०, पृ० 78)

पञ्चचक्षुषि

मांसचक्षुषा शतयोजनव्यवहितवस्तुदर्शिना । ...दिव्यचक्षुषाऽनन्तलोकधात्वन्तरित-
सूक्ष्मतररूपसंदर्शिना । ...बुद्धचक्षुषा परचित्तवेदिना । प्रज्ञाचक्षुषा सर्वधर्माविकल्पनलक्षणेन ।
ज्ञानचक्षुषा सर्वाकारवस्तुदर्शिना । (ष० यो० टि०, पृ० 95-96)

अत्र प्रथमं मांसचक्षुषा योगी आदिकर्मिको विश्वबिम्बं पश्यत्यभिज्ञाभिर्विना । ततो दिव्यचक्षुषा पश्यत्यभिज्ञावधिवशात् । ततो बुद्धचक्षुषा पश्यति वीतरागावधिवशतः । ततः प्रज्ञाचक्षुषा पश्यति बोधिसत्त्वावधिवशात् । ततो ज्ञानचक्षुषा पश्यति सम्यक्सम्बुद्धावधिवधिवशात् सर्वोपधिविनिर्मुक्त इति । एवं तथागतस्य पञ्चचक्षूंषि मांसादीन्युक्तानि शून्यतादर्शनं प्रति । अन्ये सत्त्वाः शून्यतादर्शनविषये जात्यन्धा इति तत्त्वभावनानियमः । (ष० यो०, पृ० 95-96)

इह प्रथमं स्वचित्ताभासो मांसचक्षुषा तथागतस्य दृश्यते दिव्यादिचक्षुषा परचित्तज्ञानं दृश्यते तेन धर्मसंग्रहे उक्तानि पञ्चचक्षूंषि भगवत इति । एवं क्रमान्मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्भावनाबलेन भविष्यति । ततोऽदृष्टं न किञ्चिदस्ति सर्वज्ञस्येति ।

(ष० यो०, पृ० 113)

श्वादीनां मांसचक्षुः प्रकृतिगुणवशादिव्यचक्षुः सुराणाम्
प्रत्येकश्रावकाणां नरहृदयगतं बुद्धचक्षुस्तृतीयम् ।
प्रज्ञाचक्षुश्चतुर्थं प्रभवति विमलं बोधिसत्त्वेषु शुद्धम्
बुद्धानां सर्वदर्शी त्रिमलविरहितः पञ्चमो ज्ञानचक्षुः ॥

(ष० यो०, पृ० 139)

पञ्चानन्तर्याणि

आनन्तर्याणि मातृपित्रर्हद्वधाः संघभेदो दुष्टचित्तेन तथागते रुधिरोत्पादश्चेति । एतदन्यतरेणावीचौ कल्पमनन्तरमेव स्यात्, इत्यानन्तर्यमुच्यते । (ष० यो० टि०, पृ० 92)

पञ्चाभिज्ञा

(आकाश) ऋद्धिर्दिव्यचक्षुर्दिव्यश्रोत्रपरचित्तज्ञानपूर्वनिवासानुस्मृतिस्वभावा पञ्चाभिज्ञास्वभावा विश्वमाता च भवति महामुद्रा । (ष० यो० टि०, पृ० 109)

पञ्चामृतानि

विडादिकं विरशुमामूपञ्चकम् । गोक्कादिकं गोकुदहनपञ्चकम् । अध्यात्मनि पञ्चामृतानि पञ्चस्कन्धाः पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चप्रदीपानि इति । उक्तं च—

या बिन्दोः श्वेतधारा पतति दिननिशं मामकी सा सुरा नो
गोक्काद्यं चक्षुरादेः स्फरणमनुदिनं नान्यमांसं कदाचित् ।
सेवा पञ्चामृतानां स्वकुलभुवि गतैर्देवतैः शुद्धकाये
शून्ये चित्तप्रवेशात् सहजभुवि सुखं मैथुनं तन्न योनौ ॥ इति ।

(ष० यो० टि०, पृ० 96-97)

परमजिनपति:

परमजिनपतेर्वज्रसत्त्वस्य । (ष० यो० टि०, पृ० 81)

परमाक्षरम्

ननु बोधिचित्तं शुक्रधातुरिहोच्यते । तत्कथमजडस्य बुद्धत्वस्य परमाक्षरज्ञानस्य साधनमुक्तम् । सत्यमुक्तम्—शुक्रस्वभावेन साधयेत् परमाक्षरम् । ...षट्शताधिकैकविंशति-सहस्रश्वासनिरोधात् परमाक्षरम् । (ष० यो० टि०, पृ० 93-94)

पाण्डरा

अध्यात्मदृष्ट्या स्कन्धायतनादिशून्यतादृष्ट्या रागस्य निधनता । सा च पाण्डरा ।

(ष० यो० टि०, पृ० 137)

प्रज्ञाधृक्

प्रज्ञाधृग् अमोघसिद्धिः । (ष० यो० टि०, पृ० 139)

प्रज्ञापारमिता

प्रज्ञापारमितापि सर्वधर्मशून्यताप्रतिपत्तिरपि । (ष० यो० टि०, पृ० 79)

प्रज्ञोपायात्मकयोगः

ज्ञानशीलसंभारसंभृतत्वात् प्रज्ञोपायात्मको योगः । इति प्रथमो योगः ।

(ष० यो० टि०, पृ० 94)

प्रत्याहारध्यानाङ्गम्

...अनेन प्रत्याहारध्यानाङ्गे उक्ते चक्षते—

प्रत्याहारो दशानां विषयविषयिनामप्रवृत्तिः शरीरे

प्रज्ञा तर्को विचारो रतिरचलसुखं ध्यानमप्येकचित्तम् ॥ इति ।

(ष० यो० टि०, पृ० 74)

प्राणायामधारणाङ्गम्

...अनेन च प्राणायामधारणाङ्गे उक्ते । तथा च—

प्राणायामो द्विमार्गस्खलनमपि भवेन्मध्यमे प्राणवेशो

बिन्दौ प्राणप्रवेशो ह्युभयगतिहतो धारणा चैकचित्तम् ॥ इति ।

(ष० यो० टि०, पृ० 75)

प्राणायामः

प्राणायामः कुम्भक ऊर्ध्वाधस्त्रिनाडीनिरोधात्मा । (ष० यो० टि०, पृ० 86)

प्राणायामश्चन्द्रसूर्यगतिभङ्गलक्षणः। (ष० यो० टि०, पृ० 98)

आकाशादिपृथिव्यादिदशमण्डलभङ्गेन ललनारसनयोर्निरोधश्चावधूतीमार्गेणैव प्रवेश-
स्थितिनिर्गमलक्षणा प्राणवायोः सूक्ष्मनाड्यां प्रवृत्तिः प्राणायाम इति। (ष० यो० टि०, पृ० 105)

मठः

मठश्छात्रादिनिलयः। (ष० यो० टि०, पृ० 82)

महामुद्रासिद्धिः

महती चासौ सिद्धिश्चेति महासिद्धिर्महामुद्रासिद्धिः। (ष० यो० टि०, पृ० 87)

महारणः

अनाहतध्वनिरूपत्वान्महान् रणः शब्दोऽस्येति महारणः। इति द्वितीयो योगः।

(ष० यो० टि०, पृ० 94)

महारागम्

रागविरागयोः शुक्लकृष्णयोर्मध्ये स्थितिगमनाभावान्महारागम्।

(ष० यो० टि०, पृ० 94)

मामकी

घ्राणदृष्ट्या नासिकोपलक्षितान्तरालदेशे दृष्ट्या मानस्य प्राकृतस्य मानस्य निधनता
निरावरणता। सा च मामकी। (ष० यो० टि०, पृ० 138)

मारवृन्दम्

मारवृन्दं विकल्पचित्तजालम्। उक्तं च—मारः स्वचित्तं न परोऽस्ति मार इति।

(ष० यो० टि०, पृ० 110-111)

योगाङ्गचतुष्टयम्

सेवा पञ्चामृताद्यैर्जलनिधिकुलिशैर्मन्त्रजापादिभिश्च

प्रत्याहारादिभिः स्यात् कुलिशकमलजेनामृतेनोपसिद्धिः।

आनन्दाद्यैस्त्रिवज्राब्जसमरसगता भावना साधनं स्यात्

प्रज्ञासङ्गेऽच्युतं सम्भवति खलु महासाधनं सूक्ष्मयोगात् ॥

इहादिकर्मिकेन प्रथमं सेवा कर्तव्या साधनविधिना। सेवापञ्चामृताद्यैरिति। बाह्ये
पञ्चामृतं विडादिकम्, आदिशब्देन गोक्वादिकं तैर्भक्षितैः सेवा देवतातोषणार्थम्। अध्यात्मनि
पञ्चामृतानि पञ्चस्कन्धा आदिशब्देन पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चप्रदीपाः तेषां निरपेक्षता सेवा शरीर-

द्रव्यतृष्णापरित्यागस्तया सेवया देवता वरदा भवन्ति न गूथादिना भक्षितेनेति। जलनिधि-कुलिशैरिति। कायभोगनिरपेक्षता वाग्भोगनिरपेक्षता चित्तभोगनिरपेक्षता च्यवनसुखनिरपेक्षता सेवा कायवाक्चित्तानां ब्रह्मचर्यं संयम इत्यर्थः। अनया देवता वरदा भवन्ति न भवभोग-स्पृहयेति। मन्त्रजापादिभिश्चेति। इह मन्त्रजापो नाम प्राणसंयमः। आदिशब्देन रेचकपूरक-कुम्भकयोगः सदा सेवा, तया वरदा भवन्ति न प्राणेनायन्त्रितेन वाग्जल्पितेनेति नीतार्थः। नेयार्थेन पुनरक्षमालादिना जापादिकं कर्तव्यं सामान्यसिद्धयर्थम्।

इदानीमुपसाधनमुच्यते—प्रत्याहार इत्यादि। इह संसारिणां आहारश्चक्षुरादीन्द्रियैरूपादिविषयग्रहणं तत्परित्यागः प्रत्याहार इत्युच्यते। शून्यताबिम्बेऽन्यैश्चक्षुरादिभिर्मासाद्यैरन्य-रूपादिविषयग्रहणमुपसाधनम्। तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा च। कुलिशकमलजेनामृतेनाच्युतेनोपसाधनं नीतार्थेन। बाह्ये देवतोत्सर्जनेन नेयार्थेनेत्युपसाधनसिद्धिः।

इदानीं साधनमुच्यते—आनन्देत्यादि। इहानन्दाद्यैस्त्रिवज्राः कायवाक्चित्तबिन्द-वोऽब्जसमरसगता भावना साधनं स्याद् हन्नाभिगुह्ये बिन्दूनां स्थितिरित्यर्थः। एवं साधनम्। ततो महासाधनम्—प्रज्ञासङ्गेऽच्युतं सुखं सम्भवति यदा तदा खलु महासाधनं सूक्ष्म-योगादिति सुषुम्नानाडिकोर्ध्वं शुक्रसंयोगान्महासाधनमित्युच्यते नीतार्थेन। नेयार्थेन पुनः प्रज्ञा-धर्मोदयनासिकाग्रे सर्षपादिकमिति नियमः। एवं महासाधनं भवति। (ष० यो०, पृ० 96-98)

इह श्रीसमाजोत्तरे सेवोपसाधनं महासाधनं चेति। तदेव भगवानाह—

सेवाकाले महोष्णीषबिम्बं विभाव्य यत्नतः ।

उपसाधनकाले तु बिम्बं चामृतकुण्डलीम् ॥

साधने देवताबिम्बं भावयेद् योगतत्परः ।

महासाधनकाले तु बिम्बं बुद्धाधिपं विभुम् ॥

(ष० यो०, पृ० 124-125)

योगाभ्यासः (स्वचित्तस्याभासे प्रवेशः)

आकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गं प्रविष्टैः

शून्याद्भूमौ मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीपः ।

ज्वाला चन्द्रार्कवज्राण्यपि परमकला दृश्यते बिन्दुकश्च

तन्मध्ये बुद्धबिम्बं विषयविरहितानेकसम्भोगकायम् ॥

इदानीमस्य स्वचित्तस्याभासे प्रवेश उच्यते—आकाशेत्यादिना। इह मन्त्रयाने पारमितायाने च द्विविधो योगाभ्यासः। आकाशे योगाभ्यासोऽभ्यवकाशे च। य आकाशे योगमाप्स्यते स रात्रौ निश्छिद्रगृहेऽन्धकार आकाशासक्तचित्तो धूमादिकं निमित्तं पश्यति। अनिमिषनयनो वज्रमार्गं प्रविष्ट इति। इह मध्यमाप्राणप्रविष्टः शून्यादेव आकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्विमलखद्योत एव प्रदीप इति निशायोगेन पश्यति। ततो निरभ्रं गगनं पश्यति ततो गगनात् पुनर्दिवायोगेन गगनोद्भवः स्वयंभूः प्रज्ञाज्ञानानलो महानिति (ना० सं० VI-20)। ज्वाला दृश्यते निरभ्रे गगने। एवं वैरोचनो महादीप्तिर्ज्ञानज्योतिर्विरोचनः (ना० सं० VI-21) चन्द्राभासः। जगत्प्रदीपः (ना० सं० VI-21c) सूर्यः ज्ञानोल्को (ना० सं० VI-21d) वज्रराहुः। महातेजाः प्रभास्वरो (ना० सं० VI-21d) विद्युत् परकलेति। विद्याराजोऽग्रमन्त्रेशो (ना० सं० VI-22a) बिन्दुक इति दशधानिमित्तं समाजादौ रात्रियोगेन। नामसङ्गीत्यां दिवायोगेन भगवतोक्तम्। ततो मन्त्रराजा महार्थकृदिति (ना० सं० VI-22) सर्वाकारं घटपटादिकं बिम्बदर्शनमिति। तन्मध्ये बिन्दुमध्ये बुद्धबिम्बं विषयविरहितं द्रव्याभावात् कल्पनाभावाच्चा नेकसम्भोगकायम्। ततो बिम्बयोगेनानाहतध्वनिर्यः स एव श्रूयते। एवं निर्माणकायो रूपावभासतः। शब्दावभासतः संभोगकाय इत्यर्थः।

आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयम्
यावद्वै कृष्णरेखा स्फुरदमलकरा दृश्यते कालनाड्याम् ।
तस्यां सर्वज्ञबिम्बं पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं
सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमेव ॥

अत्र दिवायोग आकाशं स्तब्धदृष्ट्या जलधररहितं योगिनाऽऽलोकनीयं पूर्वाह्णेऽपराह्णे च रवेः पृष्ठं दत्त्वाऽन्यथा रविरश्मिभिस्तिमिरं भवति तेन तद् बाधात् प्रतिदिनमवलोकनीयं यावद् बिन्दुमध्ये कृष्णरेखा बालप्रमाणा स्फुरदमलकरा दृश्यते। कालनाड्यामवधूत्यामन्तर्भूतं सर्वज्ञबिम्बं त्रैधातुकमशेषं पयसि रविरिवानाविलं विश्ववर्णं सर्वाकारं स्वचित्तं विषयविरहितं नापरं चित्तमेव परचित्तं न भवति, परचित्तज्ञानाभावतः। इह प्रथमं स्वचित्ताभासो मांस-चक्षुषा तथागतस्य दृश्यते, दिव्यादिचक्षुषा परचित्तज्ञानं दृश्यते, तेन धर्मसंग्रहे उक्तानि पञ्चचक्षूषि भगवत इति। एवं क्रमान्मांसचक्षुर्दिव्यचक्षुर्बुद्धचक्षुः प्रज्ञाज्ञानचक्षुर्ज्ञानचक्षु-भावनाबलेन भविष्यति। ततोऽदृष्टं न किञ्चिदस्ति सर्वज्ञस्येति। (ष० यो०, पृ० 112-113)

योगी

योगीति प्राणापानयोः परस्परसंयोगः स यस्यास्ति इति योगी। (ष० यो० टि०, पृ० 101)

रत्नधृक्

रत्नधृग् रत्नसंभवः। (ष० यो० टि०, पृ० 139)

लोकेश्वरः

लोकेश्वरो बुद्धः पद्मपाणिर्वा। (ष० यो० टि०, पृ० 75)

लोचना

आकाशदृष्ट्या अन्तरालावलम्बिदृष्ट्या मोहस्य निधनता निःस्वभावता। सा च लोचना। (ष० यो० टि०, पृ० 137)

वज्रजापः

वज्रजापः परमार्थजाप ऊर्ध्वं नासाग्रे प्राणायामकल्पना। तद् भावनाप्रकर्षपर्यन्ते प्राणायामो निरोधः। उक्तं च विमलप्रभायाम्—नाभेरूर्ध्वं गच्छतीति चिन्तयेद् यथेच्छया अनुपलम्भपर्यन्तम् उच्छ्वासः। नासिकायां चिन्तयेन्निःश्वासः। तथैवाधरेऽनुपलम्भं यावद् यथेच्छया शब्दबोधः। (ष० यो० टि०, पृ० 121-122)

वज्रधात्वीश्वरी

अनङ्गदृष्ट्या सर्वाकारवरोपेतशून्यताबिम्बे सहजानुरागदृष्ट्या द्वेषस्य लौकिकद्वेषस्य निधनता निःस्वभावता निरावरणता महाद्वेषता। सा च वज्रधात्वीश्वरी।

(ष० यो० टि०, पृ० 137-138)

वज्रधृक्

वज्रधृग् अक्षोभ्यः। (ष० यो० टि०, पृ० 139)

वज्रिणः

वज्रिणः परमाक्षरज्ञानिनः। (ष० यो० टि०, पृ० 81)

दशिताः (दश)

दशवशितादिकमिति आयुष्कर्मविमुक्तिपरिष्कारप्रणिधानद्विधर्मचित्तोपपत्तिज्ञान-वशितादिकम्। (ष० यो० टि०, पृ० 106)

वायवः (दश)

दशवायूनां प्राणापानसमानोदानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजयानाम्।

(ष० यो० टि०, पृ० 104)

विचित्तम्

विचित्तं अचित्तचित्तम् । (ष० यो० टि०, पृ० 76)

विद्याव्रतम्

विद्याव्रतेन विद्याप्रधानं व्रतं ब्रह्मचर्यम् । विद्या स्वजिनाभिषिक्ता गुणवती ग्राह्या ।
गुरुणा अभिधानोत्तरेऽपि—

सम्प्राप्य पुक्कसीं चान्यां रूपयौवनमण्डिताम् ।
एकयोगकृताभ्यासां समयज्ञां दृढव्रताम् ॥
निर्लज्जां निःस्पृहां धीरां वितृष्णां निरहङ्कृताम् ।
विद्याव्रतं तया सार्धमाचरेन्मन्त्रवित् स्वयम् ॥ इति ।

(ष० यो० टि०, पृ० 86)

विश्वमाता

विश्वमाता च भवति महामुद्रा । (ष० यो० टि०, पृ० 109)

विश्वमातेत्यन्तेन महामुद्रासिद्धिः सूचितेति । मुद्रा महामुद्रा मायानुरूपा स्वच्छदर्पण-
प्रतिबिम्बोपमा । (ष० यो० टि०, पृ० 110)

षट्सु चक्रेषूर्ध्वं गतेन शुक्रेणाधोगतेन रजसाऽनाहतब्रह्मघोषात् परमाक्षर-
महासुखोल्लासान्मात्सर्यनिधनता । सा च विश्वमाता । (ष० यो० टि०, पृ० 138)

विश्वमाया

विश्वमाया विश्वमाता महामुद्रा । (ष० यो० टि०, पृ० 81)

विहारः

विहारो भिक्षुसाङ्घिकवासः । (ष० यो० टि०, पृ० 82)

वीरक्रमः

वीरक्रमो न बाह्ये देहे प्राणक्षयो ह्यसावुक्तः । (ष० यो०, पृ० 92)

शमः

शमस्तदुच्छेदः (जन्ममरणप्रबन्धस्योच्छेदः) परमार्थसत्यम् । (ष० यो० टि०, पृ० 75)

शून्यचतुष्टयम्

शून्यातिशून्यमहाशून्यसर्वशून्यतया प्रभास्वरत्वाच्छून्यः परमाणुधर्मतातीत इत्यर्थः ।

(ष० यो० टि०, पृ० 76)

शून्यम् (शून्यताबोधिः)

इहोत्पत्तिक्रमे प्रथमं शून्यताबोधिरिति प्राणिनां मरणान्ते स्कन्धपरित्यागादुप-
पत्यंशिकस्कन्धग्रहणाद् यदन्तरालं शून्यताक्षणमेकं त्रिभवदर्शनं तच्छून्यमुच्यते ।

(ष० यो०, पृ० 98-99)

इह प्रथमं शून्यताबोधिरिति अन्धकारे न किञ्चिदपि चिन्तनीयम् ।

(ष० यो०, पृ० 100)

श्रीकालचक्रवज्रः

शून्यताकरुणयोरभिन्नत्वात् श्रीकालचक्रवज्रः । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

श्रीबोधिचित्तबिन्दुधरः

चतुःकायावरणक्षयात् श्रीबोधिचित्तबिन्दुधरः । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

षट्कुलानि (जिनकुलानि)

यस्मिन् वै जातिरूपं व्रजति निधनतां तन्महारूपमुक्तम्
यस्यां संसारदुःखं व्रजति निधनतां सा महावेदनोक्ता ।
यस्यां संसारसंज्ञा व्रजति निधनतां सा महाव्रजसंज्ञा
यस्मिन् संसारबुद्धिर्व्रजति निधनतां व्रजसंस्कार एव ॥

यस्मिन् निद्राद्यवस्था व्रजति निधनतां तच्च विज्ञानमुक्तम्
यस्मिन्नज्ञानभावो व्रजति निधनतां तन्मुनेर्ज्ञानमेव ।
एते वैरोचनाद्याः परमजिनवराः षड्विधाः षट्कुलानि
अन्ये षड्धातुभेदा अवनिशिखिपयोमारुताकाशशान्ताः ॥

यस्यां मोहः समस्तो व्रजति निधनतां लोचना सा धरित्री
यस्यां मानः समस्तो व्रजति निधनतां मामकी साम्भ एव ।
यस्यां रागः समस्तो व्रजति निधनतां पाण्डरो सा हविः स्याद्
यस्यां रागः समस्तो व्रजति निधनतां तारिणी साऽनिलश्च ॥
यस्यां द्वेषः समस्तो व्रजति निधनतां वज्रधात्वैश्वरी खं
यस्यां मात्सर्यं सर्वं व्रजति निधनतां विश्वमाताक्षरं सा ॥

(ष० यो०, पृ० 141-142)

षडङ्गयोगक्रमः (समाजक्रमेण)

(1) प्रत्याहारः (प्रथमाङ्गम्)

उक्तं च समाजोत्तरे—

दशानामिन्द्रियार्थानां स्ववृत्तिस्थं तु सर्वतः ।

प्रत्याहार इति प्रोक्तः कामाहारं प्रति प्रति ॥

अस्य प्रतिनिर्देशः। इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थाश्च तेषां स्ववृत्तिर्यथास्वं ग्राह्यग्राहकरूपेण प्रवृत्तिः। तत्र स्थितिः स्ववृत्तिस्थं तु सर्वतो हीनमध्योत्तमभेदेन कामाहारं प्रति प्रति। काम्यन्तेऽभिलष्यन्त इति कामा रूपादयस्तेषामिन्द्रियैर्यदाहरणं ग्रहणं प्रति प्रति पुनः पुनस्तत्प्रत्याहार इत्याद्यङ्गस्य प्रतिनिर्देशः। (ष० यो० टि०, पृ० 128-129)

(2) ध्यानाङ्गम् (द्वितीयमङ्गम्)

निर्विकल्पचित्तैकाग्रतयाऽविकल्पितातीतानागतवर्तमानभावदर्शनादिति ध्यानाङ्गम्।

उक्तं च—

पञ्चकामाः समासेन पञ्चबुद्धप्रयोगतः ।

कल्पनं ध्यानमुच्येत तद् ध्यानं पञ्चधा भवेत् ॥

वितर्कं च विचारं च प्रीतिं चैव सुखं तथा ।

चित्तस्यैकाग्रता चेति पञ्चैते ध्यानसंग्रहाः ॥

गुह्यत्रयं वितर्कश्च विचारस्तत्प्रभोगता ।

तृतीयं प्रीतिसङ्काशं चतुर्थं सुखसङ्ग्रहः ॥

स्वचित्तं पञ्चमं ज्ञेयं ज्ञानज्ञेयोदयव्ययः ।

सर्वबुद्धमयं शान्तं सर्वाकाशप्रतिष्ठितम् ॥ इति ।

प्रत्याहारविशोधनाय द्वितीयाङ्गस्य प्रतिनिर्देशः। पञ्चकामा रूपादय इन्द्रियाणां विषयभूताः। समासेनेन्द्रियैरेकीभावेन। तस्माद् रूपादयोऽपि पञ्चबुद्धा इत्येवं विधं यत् परिशुद्धकल्पनं तद् ध्यानम्। तच्च वितर्कादिभेदेन पञ्चविधं भवति। वितर्केत्यादि प्रभेदकथनम्। गुह्यत्रयेत्यादीन्द्रियविषयविज्ञानानि गुह्यत्रयम्। पञ्चेन्द्रियाणि इन्द्रियज्ञानानि तद्विषयाश्च पञ्चतथागतात्मका इति यत् परिज्ञानं स वितर्कः। तस्मिन्नेव यद् विचारणस्थितिर्विचारः। एवं विचारयतस्तत्त्वप्रवेशाभिमुख्येन यत् सौमनस्यलक्षणं तत् प्रीतिसङ्काशम्। तत्त्वाभिनिवेशेन

कायप्रश्रब्धिलक्षणं यत् प्राप्तं सुखं तत् सुखसङ्ग्रहः। एवमभ्यस्यतः प्रकर्षपर्यन्तगमनाज्ज्ञानस्य चक्षुरादिषट्प्रवृत्तिविज्ञानस्य ज्ञेये रूपादिधर्मधातुपर्यन्ते उदयो ज्ञानज्ञेयोदयः। तस्य क्षयश्चित्तस्य ग्राह्यग्राहकशून्यत्वपरिज्ञानलक्षणा चित्तैकाग्रता स्वचित्तमित्युक्तम् तदेवं विधं चित्तं सर्वबुद्धमयं शान्तं आभासमात्रं सर्वशून्यैकनिष्ठं जायत इति पञ्चप्रभेदं द्वितीयमङ्गम्।

(ष० यो० टि०, पृ० 130-131)

(3) प्राणायामाङ्गम् (तृतीयमङ्गम्)

आकाश इति रात्रियोगेन। अभ्यवकाश इति दिवायोगेन। अमृतकुण्डलीबिम्ब-संज्ञेत्यादिना प्राणायामाङ्गं तृतीयमुच्यते। उक्तं च—

पञ्चवर्णं महारत्नं प्राणायाम इति स्मृतम् ।

स्वमन्त्रं हृदये ध्यात्वा प्राणं बिन्दुगतं न्यसेत् ॥ इति ।

प्रतिनिर्देश उच्यते। पञ्चवर्णं पञ्चतथागतात्मकम्। अत एव महारत्नं प्राणं जीवितमायाम्यते दीर्घं विस्तार्यते येन स प्राणायाम इति स्मृतः। तमेव प्रवेशादिस्वभावेन बिन्दुनाऽहर्निशं अभ्यस्यमानत्वात्। स्वमन्त्रं हृदये स्वहृत्पुण्डरीके ध्यात्वा प्राणं बिन्दुगतं न्यसेदिति तृतीयमङ्गम्। (ष० यो० टि०, पृ० 131-132)

(4) धारणाङ्गम् (चतुर्थमङ्गम्)

एवं बिन्दुस्थाने पिण्डरूपेण निरोधतः प्राणस्तेन तस्य धारणोच्यते इति धारणाङ्गम्। उक्तं च—

निरुद्धे स्वेन्द्रिये रत्ने धारयेद् धारणं स्मृतम् ॥ इति ।

अस्य प्रतिनिर्देशः। स्वं रूपादयो विषयाः। इन्द्रियं चक्षुरादयः। तस्मिन् स्वेन्द्रिये निरुद्धे विलीने ततो विषयेन्द्रियाधारभूते रत्ने चित्तरत्ने च प्राणायामेन सह निरुद्धेऽस्तंगते यद् धारयेत् तद् धारणम्। किं तत्? भूतकोटिः। एतद् धारणाख्यमिति चतुर्थमङ्गम्।

(ष० यो० टि०, पृ० 133)

(5) अनुस्मृत्यङ्गम् (पञ्चममङ्गम्)

...उक्तं च—

स्थिरं वै वज्रमार्गेण स्फारयेत्तं खधातुषु ।

विभाव्य यदनुस्मृत्या तदांकारं तु संस्फरेत् ॥ इति ।

वज्रमार्गेणालङ्घनीयपञ्चनिमित्तानुपूर्वेण प्रभास्वरप्रवेशेन स्थिरं विशुद्धं चित्तं खधातुषु लोकधातुषु स्फार्येद् धर्मकायस्वरूपेण । एवमात्मानं प्रभास्वरगतं विभाव्य साक्षात् कृत्वा यत् पूर्वमनुस्मृत्या मरीचिकाद्याकारेण भूतकोटिं प्रापितं तदाकारेण तेनैव क्रमेण संस्फार्येत् । एतदनन्तरोक्तमङ्गं पञ्चममनुस्मृतिरिति । (ष० यो० टि०, पृ० 135)

(6) समाध्यङ्गम् (षष्ठमङ्गम्)

सहजानन्दरूपिणी सावस्था बोधिसत्त्वैः शून्यताबोधिरुच्यत इत्यन्तेन समाधिरुक्तः ।
उक्तं च—

प्रज्ञोपायसमापत्त्या सर्वभावं समासतः ।

संहृत्य पिण्डयोगेन बिम्बं मध्ये विभावयेत् ॥

झटिति ज्ञाननिष्पत्तिः समाधिरिति संज्ञितम् ।

सर्वभावं स्थावरजङ्गमं प्रज्ञोपायसमापत्त्या इति । संवृतिपरमार्थयोगेन स्थितं पिण्डरूपेण महामुद्रारूपेणैकीकृत्य तस्य स्थावरजङ्गमस्य मध्ये युगनद्धात्मकं महावज्रधरत्वं विभावयेज्जानीयात् । अनेन क्रमेण झटिति क्षणेन ज्ञाननिष्पत्तिः समाधिरिति षष्ठमङ्गमिति समाजक्रमेण षडङ्गयोगक्रमः । (ष० यो० टि०, पृ० 135)

षडङ्गयोगभावना

षडङ्गयोगभावनयेति भगवतो नियमः । तथा श्रीसमाजे भगवानाह—

अभावे भावना भावो भावना नैव भावना ।

इति भावो न भावः स्याद् भावना नोपलभ्यते ॥ इति ।

इहाभावे निरभ्रगने भावना प्रत्याहारः । स एवाभावे भावना भाव इति । भावना नैव भावना इति । इह प्रत्याहारभावना या अभावे निरभ्रगने सा भावना नैव भावना भवति । विकल्पभावनारहितत्वादिति भावो यः प्रत्याहारेण दृष्टः स भावो न भावः स्यादविकल्पिता-तीतानागतवर्तमानभावदर्शनादिति । अतो विकल्पभावना नोपलभ्यते प्रत्याहारभावनायामिति भगवतो वाक्यम् ।

इयं भावना प्रज्ञापारमितायामपि भगवतोक्ता । तद्यथा—अथ खलु शक्रो देवानामिन्द्र आयुष्मन्तं सुभूतिमेतदवोचत् । य आर्यसुभूतेऽत्र प्रज्ञापारमितायां योगमाप्स्यते क्व स योगमाप्स्यते । सुभूतिराह—आकाशे स कौशिकयोगमाप्स्यते यः प्रज्ञापारमितायां योगमाप्स्यते ।

अभ्यवकाशे स कौशिकयोगमाप्तुकामो यः प्रज्ञापारमितायां शिक्षितव्यं मंस्यते । इति महामुद्रा-
भावनाप्रतिसेना मायातुल्या निरभ्रे गगने भगवतोक्तेति । (ष० यो०, पृ० 130-132)

षडङ्गयोगः (कालचक्रक्रमेण)

प्रत्याहारो जिनेन्द्रो भवति दशविधो ध्यानमक्षोभ्य एव
प्राणायामश्च खड्गी पुनरपि दशधा धारणा रत्नपाणिः ।
डोम्ब्यां चानुस्मृतिः स्यादपि कमलधरः श्रीसमाधिश्च चक्री
एकैकः पञ्चभेदैः पुनरपि च यतो भिद्यते ह्यादिकाद्यैः ॥

प्रत्याहारो दशानां विषयविषयिणामप्रवृत्तिः शरीरे
प्रज्ञा तर्को विचारो रतिरचलसुखं ध्यानमप्येकचित्तम् ।
प्राणायामो द्विमार्गस्खलनमपि भवेन्मध्यमे प्राणवेशो
बिन्दौ प्राणप्रवेशो ह्युभयगतिहतो धारणा चैकचित्तम् ॥

चण्डाल्यालोकनं यद्भवति खलु तनौ चाम्बरेऽनुस्मृतिः स्यात्
प्रज्ञोपायात्मकेनाक्षरणसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिः ।
एतन्मृदादिभेदैस्त्रिविधमपि भवेत् साधनं विश्वभर्तु-
स्तिस्त्रो मुद्रास्त्रिमात्रास्त्रिविधगतिवशात् कर्मसङ्कल्पदिव्याः ॥

प्रत्याहारेण योगी विषयविरहितोऽधिष्ठ्यते सर्वमन्त्रैः
पञ्चाभिज्ञानलाभी भवति नरपते ध्यानयोगेन शुद्धः ।
प्राणायामेन शुद्धः शशिरविरहितः पूज्यते बोधिसत्त्वै-
र्मरिक्लेशादिनाशं विशति दशबलं धारणाया बलेन ॥

संशुद्धोऽनुस्मृतेः स्यादविमलमपि च भामण्डलं ज्ञानबिम्बात्
तस्माच्छुद्धः समाधौ कतिपयदिवसैः सिध्यति ज्ञानदेहः ।
प्रत्याहारादिभिर्वै यदि भवति न सा मन्त्रिणामिष्टसिद्धि-
र्नादाभ्यासाद्धटेनाब्जगकुलिशमणौ साधयेद् बिन्दुरोधात् ॥

[योगाङ्गचतुष्टयम्]

सेवायामादियोगो नभसि दशाविधश्चक्रिणः क्रोधदृष्ट्या
दृष्ट्या विघ्नान्तकस्यामृतपथगतया चोपसाध्ये षडङ्गः ।

प्रज्ञासृष्टेन्दुबिन्दोरपि कुलिशमणौ त्र्यक्षरः साधने स्यात्
सौख्यानष्टैकशान्तः सहज इह महासाधने ज्ञानयोगः ॥

इदानीं षडङ्गयोग उच्यते प्रत्याहार इत्यादिना। इह प्रत्याहार आदिकर्मणि जिनेन्द्र इति ज्ञानस्कन्धः। स च निमित्तभेदेन दशविधो धूममरीचिखद्योतदीपज्वालाचन्द्रादित्यराहु-
कलाबिन्दुदर्शनभेदेनाकल्पितो ज्ञानस्कन्धः।

ध्यानमक्षोभ्य एव दशविधो विज्ञानस्कन्धः। विषयविषयिणां दशानां एकत्वं विश्वबिम्बे ध्यानमिति। प्राणायामश्च दशविधः खड्गीतिसंस्कारस्कन्धः। वामदक्षिणदशमण्ड-
लैकलोलीभूतत्वादिति। पुनरपि दशधा धारणा रत्नपाणिरिति वेदनास्कन्धः। प्राणस्य धारणा नाभिहृत्कण्ठललाटोष्णीषकमले गतागतभेदेन दशविधेति। डोम्ब्यां चानुस्मृतिः स्यादपि कमलधर इति संज्ञास्कन्धो दशविधः। सा चानुस्मृतिर्डोम्ब्यां मध्यनाड्यां दशकामावस्थाभेदत इति। श्रीसमाधिश्च चक्रीति वैरोचनो दशविधः समाधिर्दशवायूनां निरोधत इति। एवं भगवानप्रतिष्ठितनिर्वाणोऽवाहो वायूनां यत इत्यर्थः।

[षडङ्गयोगस्य लक्षणम्]

इदानीं प्रत्याहारादिलक्षणमुच्यते प्रत्याहारेत्यादिना। इह प्रत्याहारो नाम शरीरे विषयविषयिणां दशानां सम्बन्धेनाप्रवृत्तिर्विज्ञानस्य शून्यताबिम्बे विषयेषु प्रवृत्तिरन्यैश्चक्षुरादिभिः पञ्चविधैरिति। तथा तस्मिन्नैव बिम्बे प्रज्ञेत्यालोकनम्। तर्क इति भावग्रहणम्। विचार इति तस्य निश्चयार्थः। रतिरिति बिम्बासक्तिः। अचलसुखमिति बिम्बेन सह चित्तस्यैकीकरणम्। एवं ग्राह्यग्राहकभेदेन ध्यानं दशविधम्।

इह प्राणायामो नाम द्विमार्ग इति वामदक्षिणमार्गस्खलनं निरोधो मध्यमे मार्गे प्रवेशः स च दशविधो दशमण्डलनिरोधतः। इह बिन्दाविति। ललाटे प्राणप्रवेशः। उभयगतिहत इति गमनागमनरहितः। धारणा प्राणस्य ललाट एकचित्तं नाम।

चण्डाल्यालोकनं यत् त्रिभवस्याम्बरे सानुस्मृतिर्दशविधा पूर्वोक्ता। प्रज्ञो-
पायात्मकेनेति। ज्ञेयज्ञानैकलोलीभूतत्वेनाक्षरणसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिश्चेति। सापि दशविधा प्राणादीनामभावत इति। एवं षडङ्गयोगः साधनम्।

[षडङ्गयोगत्रिमुद्राभावना]

एतन्मृद्वादिभेदैस्त्रिविधमपि भवेत् साधनं विश्वभर्तुः कालचक्रस्य। तिस्रो मुद्रास्त्रिमात्रास्त्रिविधगतिवशादिति। इह बोधिचित्तस्य क्षरगतिर्मृदुमात्रा। स्पन्दगतिर्मध्यमात्रा।

निःस्पन्दगतिरधिमात्रेति। एवं कर्ममुद्रा क्षरसुखदायिका। ज्ञानमुद्रा स्पन्दसुखदायिका। महामुद्रा निःस्पन्दसुखदायिका। एवं त्रिमुद्राभावना षडङ्गयोगेन भगवतोक्ता। इति। षडङ्गयोगो भावनीयो योगिना बुद्धत्वायेति।

[षडङ्गयोगस्य फलम्]

इदानीं प्रत्याहारादिफलमुच्यते प्रत्याहारादिना। इह प्रत्याहारेण यदा योगी विशुद्धो भवति बिम्बेन स्थिरीभूतेन तदा सर्वमन्त्रैरधिष्ठ्यते वचसा वरदानादिकं ददाति। पञ्चाभिज्ञालाभी भवति नरपते ध्यानयोगेन शुद्ध इति। इह यदाऽनिमिषचक्षुर्भवति तदा दिव्यचक्षुर्भवत्येवं दिव्यश्रोतो ध्यानेन शुद्धो भवति। प्राणायामेन शुद्ध इति। इह यदा रविशशिमार्गरहितो योगी भवति सदा मध्यमावाहस्तदा प्राणायामेन शुद्धः सन् पूज्यते बोधिसत्त्वैः प्रशस्यत इत्यर्थः। मारक्लेशादिनाशं विशति दशबलमिति शून्यताबिम्बं ग्राह्यग्राहकचित्तं विशति। धारणाया बलेनेति प्राणस्य गतागतक्षयेणैकलोली भवति। संशुद्धोऽनुस्मृतिरिति। इहानुस्मृतिर्बिम्बालिङ्गनं चित्तस्य सर्वविकल्परहितत्वं तस्माच्छुद्धो यदा तदा विमलं प्रभामण्डलं भवति। अपि च शब्दाद्रोमकूपात् स्फुरन्ति पञ्चरश्मयो निश्चरन्ति ज्ञानबिम्बात् शून्यबिम्बादिति। तस्माच्छुद्धः समाधाविति। इह ग्राह्यग्राहकचित्तयोरेकत्वेन यदक्षरसुखं भवति तत् सुखं समाधिरुच्यते। तस्माच्छुद्धः समाधेः शुद्धो वैमल्यं गतः कतिपयदिवसैस्त्रिपक्षत्रिवर्षैः सिध्यति। ज्ञानदेह इति दशवशितादिकं प्राप्तो बोधिसत्त्वो भवतीति प्रत्याहारादिनियमः। (ष० यो०, पृ० 102-107)

षडङ्गयोगः (अपरतन्त्रान्तरे)

अपरतन्त्रान्तरोक्तैः षडङ्गैरस्मिन् पिण्डीकृतोऽर्थोऽङ्गत्रयाणामवगन्तव्यः। इह समाजोत्तरे भगवानाह—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामश्च धारणा ।

अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग इष्यते ॥

अतो ध्यानपूर्वः प्रत्याहारो वेदितव्यः। मन्त्रजापपूर्वः प्राणायामो वेदितव्यः। अत्र मन्त्रजापशब्देन नपुंसकजापो वज्रजापो वा प्राणधारणा उच्यते। एवमेभिः षडङ्गैः सिध्यति योगित्वं बुद्धत्वमिति। सामान्येन बाह्ययोगित्वं लौकिकं सिध्यति। आदिकर्मिकाणां बालयोगिनां लौकिकं फलं मन्त्रजापेन प्रत्याहारसंज्ञिना ध्यानेन मण्डलचक्रादिविकल्पभावनाचित्तेन सुखेन कर्ममुद्राज्ञानमुद्राक्षरस्पन्दसुखेन लौकिकसत्येनाकनिष्ठभुवनपर्यन्तमिति। एवमुभयक्रमेण

लौकिकलोकोत्तरं योगित्वं सिध्यति। अत्र लोकोत्तरं योगित्वं षडङ्गयोगेन सिध्यति यथा तथोच्यते।

इह प्रत्याहारो नाम बाह्यरूपादिविषयेष्वप्रवृत्तिश्चक्षुरादीन्द्रियैश्चक्षुर्विज्ञानादीना-
मध्यात्मविषयेषु प्रवृत्तिर्दिव्यचक्षुरादीन्द्रियैर्दिव्यचक्षुर्विज्ञानादीनामिति। अध्यात्मनि शून्यता-
लम्बनेनाकल्पितं सर्वभावदर्शनं शून्ये प्रतिसेनादर्शे कुमारिकाया इवेति प्रत्याहाराङ्गमुच्यते
त्रैधातुकबुद्धबिम्बदर्शनादिति।

ततो ध्यानं नाम शून्येषु सर्वधर्मेषु दृष्टेषु सत्सु। प्रज्ञा नाम तेषु चित्तप्रवृत्तिः। वितर्को
नाम भावग्रहणं चित्तस्य। विचारो नाम भावग्रहणप्रतिपत्तिः। रतिर्नाम सर्वभावेषु
चित्तारोपणम्। अचलसुखं नाम सर्वभावेभ्यः सुखसम्पत्तिरिति। एवं पञ्चधा ध्यानाङ्गमुच्यते।

ततः प्राणायामो नाम ललनारसनावामदक्षिणमार्गनिरोधः। अवधूतीमध्यमार्गे
प्राणवायोः सदा प्रवृत्तिरिति। पूरककुम्भकरेचकयोगेनावधूत्यां ॐकारेण श्वासं हूँकारेण
निरोधं आःकारेण निःश्वासं चन्द्रराहुसूर्यस्वभावेन कुरुते योगीति प्राणायामाङ्गमुच्यते।

ततो धारणा नाम प्राणस्य माहेन्द्रवारुणाग्निवायुमण्डले नाभौ हृदि कण्ठे ललाटे
प्रवेशो बाह्येऽनिर्गमः। बिन्दौ प्राणनिवेशनमिति धारणाङ्गमुच्यते।

ततोऽनुस्मृतिर्नाम स्वेष्टदेवतादर्शनं प्रतिबिम्बाकारं विकल्परहितम्। तस्मादनेक-
रश्मिस्फुरद्रूपं प्रभामण्डलम्। ततोऽनेकाकारं स्फुरद्रूपं त्रैधातुकस्फरणमित्यनुस्मृत्यङ्गमुच्यते।

ततः समाधिर्नामेष्टदेवतानुरागाद् यदक्षरसुखप्राप्तिस्तस्यामेकीकरणं चित्तस्य।
ग्राह्यग्राहकरहितं चित्तं समाध्यङ्गमुच्यते तथागतैः। इह षडङ्गयोगोऽत्र संक्षेपेणोक्तः। विस्तरतो
लक्षाभिधाने परमादिबुद्धे वा सद्गुरूपदेशेनावगन्तव्यो योगिना महामुद्रासिद्धये इति। इह
षडङ्गस्य पुनरादिमार्गभावनोपदेशस्तन्त्रान्तरेषूक्तः। (ष० यो०, पृ० 121-124)

सद्गुरुः

सद्गुरुः श्रीगुरुस्तस्य लक्षणं परमार्थसेवायां विस्तरेणाख्यातं यथा—

ध्यायी भवध्यानविमुक्तसङ्गः

कामी महाकामनिबद्धचित्तः ।

महाव्रती द्वीन्द्रियसौख्ययोगे

मुद्राप्रसङ्गेऽप्यविनष्टरागः ॥

चन्द्रार्कमार्गप्रविनष्टयोगः

प्रज्ञानले योगबलात् प्रविष्टः ।

अनन्तसौख्यामृतसेक एव

स श्रीगुरुर्वज्रधरोऽघहन्ता ॥ (ष० यो० टि०, पृ० 87)

समन्तभद्रम्

आदिमध्यान्तकल्याणकरत्वात् समन्तभद्रम् । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

समाधिमलाः

त्रिभिरपि प्रत्ययैर्निश्चितेऽपि सुमार्गरत्ने संशयो विचिकित्सा किमयं सुमार्गो न वेति । कौकृत्यं कुत्सितं कर्म मया कृतमतो नाहं मार्गं साक्षात्करिष्य इत्येवमाकारम् । निद्रा स्वापः कायमनसोरकर्मण्यतापादनलक्षणं स्त्यानमिद्धमिति यावत् । आलस्यमनुत्साह औद्धत्यं विक्षिप्तचित्तता नगरादित्तभ्रमणमिति यावत् । तदमी समाधिमला अनयार्ययाख्याता मार्गं भावयतामिति । (ष० यो० टि०, पृ० 89)

समाधिः

...अनेनापि समाध्यङ्गमुक्तम्—प्रज्ञोपायात्मकेनाक्षरणसुखवशाज्ज्ञानबिम्बे समाधिः । इति चक्षते । (ष० यो० टि०, पृ० 75)

चण्डालीज्वालासमुद्दीपिततया वज्रमणिशिखराग्रप्रतिष्ठमच्युतं बोधिचित्तम्, ततः क्रमेण षट्चक्रेषु निरोधितषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रश्चासास्तथा निर्विकल्पयोगाक्षरमहा-सुखमययुगनद्धात्मकज्ञानमयदेहमहावज्रधरस्वभावः समाधिरिति । (ष० यो० टि०, पृ० 106)

सहजम्

शून्यं सहजमित्युक्तम् । त्रिभववर्जितमनाहतम् । न तु लोकरूढ्या तुर्यावरणात्मकं सहजम् । शून्ये ह्यैक्यमुच्यते सर्ववर्णापगमादिति । (ष० यो० टि०, पृ० 86)

लोकाचारविवर्जनात् सहजः । (ष० यो० टि०, पृ० 94)

संग्रहः (बीजसंहतम्)

संग्रहश्चन्द्रबिन्दोरिति । इहालयविज्ञानस्य मातृगर्भे शुक्रबिन्दूनां ग्रहणं नाम संग्रहः ।

(ष० यो०, पृ० 99)

ततः संग्रहश्चन्द्रबिन्दोरिति । बिन्दुपर्यन्तं धूमादिनिमित्तग्रहणम् । (ष० यो०, पृ० 100)

संसारः

संसारो जन्ममरणप्रबन्धः संवृतिसत्यम् । (ष० यो० टि०, पृ० 75)

स्वाधिष्ठानम्

स्वाधिष्ठानं शून्ये त्रैधातुकदर्शनं नाम । (ष० यो०, पृ० 92)

यस्मात् स्वस्य चित्तस्याधिष्ठानं प्रतिभासः, तच्च शून्ये त्रैधातुकदर्शनं नामेति प्रसिद्धम् । (ष० यो० टि०, पृ० 92-93)

अत्र स्वाधिष्ठानं नाम संवृतेः सत्यदर्शनम् । (ष० यो०, पृ० 127)

हठयोगः

इदानीं हठयोग उच्यते । इह यदा प्रत्याहारादिभिर्बिम्बे दृष्टे सत्यक्षरक्षणं नोत्पद्यते अयन्त्रितप्राणतया तदा नादाभ्यासाद्धठेन प्राणं मध्यमायां वाहयित्वा प्रज्ञाब्जगतकुलिशमणौ बोधिचित्तबिन्दुनिरोधादक्षरक्षणं साधयेन्निःस्पन्देनेति हठयोगः ।

नादाभ्यासोऽत्रैव साधनपटले भगवतोक्तः—

या शक्तिर्नाभिमध्याद्ब्रजति परपदं दादशान्तं कलान्तम्
सा नाभौ संनिरुद्धा तडिदनलनिभा दण्डरूपोत्थिता च ।
चक्राच्चक्रान्तरं वै मृदुललितगतिश्चालिता मध्यनाड्याम्
यावच्चोष्णीषरन्ध्रं स्पृशति हठतया सूचिवद्वाह्यचर्म ॥
अपानं तत्र काले परमहठतया प्रेरयेदूर्ध्वमार्गे
उष्णीषं भेदयित्वा ब्रजति परपुरं वायुयुग्मे निरुद्धे ।
एवं वज्रप्रबोधान्मनसि सविषया खेचरत्वं प्रयाति
पञ्चाभिज्ञास्वभावा भवति पुनरिदं योगिनां विश्वमाता ॥

(ष० यो०, पृ० 107-108)



आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प से मन्त्रनय का विकास

—प्रो० सुनीतिकुमार पाठक—

[प्रस्तुत निबन्ध में आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प को एक आकर ग्रन्थ मानते हुए उसका संक्षिप्त परिचय, उसके चीनी और भोटी भाषाओं में रूपान्तर तथा संस्कृत पोथियों में अन्तर, मन्त्रनय का उद्भव, मन्त्र द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति, मन्त्रनय का विकास, लौकिक मन्त्र और शब्दज्ञान, अराव-सराव मन्त्रभेद, तिर्यञ्चों के राव की पहचान आदि विषयों को उक्त ग्रन्थ के आधार पर स्पष्ट करते हुए बौद्ध तन्त्र के तीनों प्रस्थानों—हेतुतन्त्र, फलतन्त्र एवं उपायतन्त्र की उपलब्धि इसमें वर्णित होने से इसे मूलतन्त्र सिद्ध किया है।]

अद्वयवज्र (आनु० 10वीं सदी) ने तत्त्वरत्नावली में बौद्धनिकायों पर विहंगम दृष्टि डाली है। उनके कथनानुसार यान तीन प्रकार के हैं। यथा—श्रावकयान, प्रत्येक(बुद्ध)यान और महायान। उनकी स्थिति के भेद चार प्रकार के हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और मध्यमक।

वैभाषिक की स्थिति से श्रावकयान और प्रत्येक(बुद्ध)यान व्याख्यात हैं। परन्तु महायान दो विधा से विभाजित है—पारमितानय और मन्त्रनय। उपर्युक्त चार स्थितियों में सौत्रान्तिक, योगाचार और मध्यमक की दृष्टि पारमितानय के व्याख्यान के लिये सुगम है। किन्तु मन्त्रनय का व्याख्यान योगाचार और मध्यमक के आधार पर है।

पुनरपि योगाचार के दो दृष्टिभेद हैं—साकार योगाचारवाद और निराकार योगाचारवाद। इसी प्रकार माध्यमिकी स्थिति में भी दो दृष्टि हैं—मायोपम अद्वयवाद और सर्वधर्म का अप्रतिष्ठानवाद।

श्रावकों का भी तीन प्रकार से विभाजन किया है—मृदु, मध्य और अधिमात्र, जो तीक्ष्ण धीः और अग्रणी थे। अतः वैभाषिक स्थिति के दो भाग हैं—पाश्चात्य वैभाषिक, जो लोग मृदु और मध्य स्थिति पर विराजित थे; और अधिमात्र श्रावक लोगों को काश्मीर वैभाषिक कहा जाता है।¹

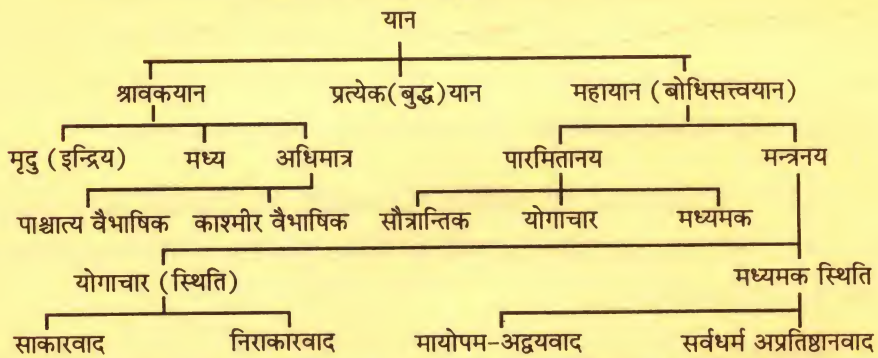
1. तत्र त्रीणि यानानि श्रावकयानं प्रत्येकयानं महायानं चेति। स्थितयश्चतस्रः वैभाषिक-सौत्रान्तिक-योगाचार-मध्यमकभेदेन। तत्र वैभाषिकस्थित्या श्रावकयानं प्रत्येकयानं च व्याख्यायते। महायानं च द्विविधं-पारमितानयो मन्त्रनयश्चेति। तत्र यः पारमितानयः सौत्रान्तिक-योगाचार-मध्यमकस्थित्या व्याख्यायते,

उपर्युक्त विवरण से बौद्धमत में निकायभेद स्पष्ट है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण (ई० पू० 483) से डेढ़ हजार वर्ष तक भारतवर्षीय बौद्धधर्म का जिस प्रकार का प्रचार हुआ, यह विचारणीय है।

मन्त्रनय के आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प क्रियातन्त्र का एक आकर ग्रन्थ है। क्योंकि साकार-योगाचार और निराकार-योगाचार एवं माध्यमिक दृष्टियों की रूपरेखा आर्यमञ्जुश्री-मूलकल्प में विवृत है¹। मन्त्रनय का दार्शनिक विचार प्रायः उपेक्षित है, परन्तु क्रियातन्त्र और चर्यातन्त्र में दृष्टि की परिशुद्धि प्राथमिक सोपान है। कामावचर लोकधातु में विचरण करते समय राग, द्वेष, मोह आदि से साधारण सत्त्व और पृथग्जन विभ्रान्त होते हैं। विचिकित्सा आदि² आपत्तियों के कारण मन्त्रनय में अपरिशुद्धसत्त्व चैतसिक धर्मों के

मन्त्रनयस्तु योगाचार-मध्यमकस्थित्या। योगाचारश्च द्विविधः साकार-निराकारभेदेन। एवं माध्यमिकोऽपि मायोपमाद्वयवादि-सर्वधर्माऽप्रतिष्ठानवादिभेदेन। एवं माध्यमिकोऽपि मायोपमाद्वयवादि-सर्वधर्माऽप्रतिष्ठानवादिभेदेन। अत्र च मृदुमध्यौ पाश्चात्य-वैभाषिकौ, अधिमात्रस्तु काश्मीरवैभाषिकः। (तत्त्व-रत्नावली, अद्वयवज्रसंग्रह, बड़ौदा, म० म० हरप्रसादशास्त्री)

अद्वयवज्र के अनुसार बुद्धमत की सारणी



1. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प के अनुसार मण्डलविधान के लिये धर्मभाणक पुस्तकों का समावेश आवश्यक है। यथा—भगवती प्रज्ञापारमिता, आर्यचन्द्रप्रदीपसमाधिसूत्र, आर्यगण्डव्यूहसूत्र, आर्यसुवर्णप्रभासोत्तमसूत्र (मिथिला संस्करण-1964, पृ० 26)।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में कर्मविधान के अधिकारी का लक्षण इस प्रकार है—

ब्रह्मचारी महाप्राज्ञो एकाकी चरसंगकृत् ।

लब्धाभिषेकोशूरश्च तन्त्रेऽस्मिन् मञ्जुभाषिते ।

कृतजापान्तकृद्युक्तो कृतविद्यस्तथैव च ॥ (वही, पृ० 67)

2. अद्वयवज्रसंग्रह में आपत्तियाँ दो प्रकार की हैं—मूलापत्ति और स्थूलापत्ति। (अ० व० सं०, म० म० हरप्रसादशास्त्री संपादित 1920, पृ० 13) विचिकित्सा को हटाने के लिये श्रद्धा अपरिहार्य है।

अकुशल कर्मों से विभ्रष्ट हो जाते हैं। अतः चित्तपरिशुद्धि और क्रियातन्त्र आदि क्रम परस्पर सापेक्ष हो जाता है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प का चीनी रूपान्तर

अमोघवज्र (ई० 746-771) ने चीनी थङ्ग राजवंश के राजत्वकाल में महायान वैपुल्य-मञ्जुश्री बोधिसत्त्वअवतंसक मूलतन्त्र से चार पटल और बारह पटल का संस्कृत से चीनी भाषा में रूपान्तर किया था। वे क्रोधराज के मन्त्रांश थे। अमोघवज्र चीनदेश में भारतवर्ष से मन्त्र और तन्त्र का उद्धार करने के लिये गये थे। उन्होंने पुनः क्रोधराज के ऋद्धिबल आदि के लिये कल्पग्रन्थ का नौ पटलों में संस्कृत से रूपान्तर किया था।¹ जो संस्कृत के मूलग्रन्थ के तीन पटल की विषयवस्तु से थोड़ा-बहुत मिलता है।²

प्रायः तीन सौ साल के बाद थियेन सि छिङ्ग (ई० 940-1001) में शुङ्ग राजवंश के काल में सम्पूर्ण मूलकल्प का चीनी भाषा में रूपान्तर किया गया था, उसमें मात्र अट्ठाइस पटल हैं।³ परन्तु म० म० गणपति शास्त्री द्वारा प्रकाशित केरल त्रिवेन्द्रम से प्राप्त पोथी में पचपन पटल हैं।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प का भोटी भाषा में रूपान्तर प्रख्यात विद्वान् लोचावा शाक्य ब्लो ग्रोस् (शाक्यमति) ने भारतीय विद्वान् पण्डित कुमारकलश के साथ 12वीं सदी में

अश्रद्धस्य मनुष्यस्य शुक्लो धर्मो न रोहते ।

बीजानामग्निदग्धानामंकुरो हरितो यथा ॥

श्राद्धे स्थितस्य मर्त्यस्य बोद्धारं हि कर्मणा ।

सिद्ध्यन्ते देवतास्तस्य अश्राद्धस्य न सिद्ध्यति ॥

(आ० म० मू० क० सप्तम पटल, मिथिला सं०, 1964, पृ० 53)

1. बुनिओ नंजिओ चीनी त्रिपिटक की कुंजिका संख्या 1422, 1423, ताइशो सं० क्रमशः 1214, 1215, 1216
2. तुलनीय आ० म० मू० क० 50वाँ यमान्तक क्रोधराजपरिवर्णन पटल, 51वाँ यमान्तक क्रोधराजाभिचारक पटल, 52वाँ यमान्तक क्रोधराजसर्वविधिनियम पटल।
3. बुनिओ नंजिओ चीनी त्रिपिटक की कुंजिका संख्या 1056, इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि चीनी परम्परा के अनुसार आ० म० मू० क० बोधिसत्त्वपिटक का अवतंसक है। इस चीनी रूपान्तर के अनुसार यह मूल-गर्भ-तन्त्र है। तन्त्र के प्रकारभेद में गर्भतन्त्र अव्याकृत तन्त्र है। आ० म० मू० क० महामुद्रापटल (44 पटल, श्लोक 91-92) में स्पष्ट है।

आकाश चेति या बुद्धा न बुद्धा वाचाय कल्पिता ।

निःप्रपञ्चार्थयुक्तानां कुतः संकल्पगोचरम् ॥

धर्मधातुसमा निष्ठा भूतकोटि समा च या ।

मन्त्रयुक्तानां निष्ठा मुद्रा[मन्त्रा] समुद्रिता ॥

किया था¹। उन उपादानों में से इस कल्पतन्त्र का विस्तार से डॉ० माधुरी सिन्हा ने अध्ययन किया है²। तुलनात्मक विचार से यह सिद्ध होता है कि ई० आठवीं सदी में भारतीय विद्वान् अमोघवज्र ने चीनदेश में छन येन मि चिआओ गुह्यदेशना के मत के प्रसार के लिये तीन पटल मन्त्रांश का चीनी भाषा में रूपान्तर किया था। उनके द्वारा चीनी रूपान्तरित सात धारणी मन्त्र प्रसिद्ध हैं। जिससे चीनदेश में बौद्ध मन्त्रनय का प्रचार-प्रसार चीनी थङ् राजवंश के काल में हुआ था। इस प्रकार भोटदेश में भी आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प का प्रचार-प्रसार लक्षणीय है। परन्तु यह निश्चित है कि केरल से प्राप्त मातृका पूर्णतया चीनी रूपान्तरित और भोटी भाषा में रूपान्तरित ग्रन्थों के पटल बराबर नहीं हैं। अर्थात् प्रारम्भ में मूलकल्प का विधान संक्षिप्त था, वे परवर्ती युग में विस्तारित हुये।

इस प्रसंग में आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प के प्राचीन पटल कौन से थे? यह अलग अध्ययन का विषय है। तथापि मन्त्रनय की दृष्टि से यह मूलकल्पतन्त्र है, यह निश्चित है।

मन्त्रनय का उद्भव

भारतीय वाङ्मय में मन्त्र शब्द का प्रयोग चार वेदों से लेकर अब तक प्रचलित है। अतः मन्त्र शब्द का अर्थभेद युग-युग में बदलता गया है। तथापि सामान्य अर्थ में मन्त्र मनन का विषय है।³ मन्त्र संस्कृत धातु मन् से निष्पन्न है। परन्तु मन्त्र शब्द का प्राकृत भाषा में भी मन्त का उल्लेख है। तब मन्त से मन्त्र शब्द निष्पादित है अथवा मन्त्र शब्द का प्राकृत रूप मन्त है।⁴ यह भी अलग अध्ययन का विषय है, क्योंकि तन्त्र और मन्त्र का प्रयोग विधान वेदों से अलग है।

1. तोहुकु विश्वविद्यालय जापानी कुंजिका कग्युर संख्या 543, देगे (स्दे दगे) मुद्रण पृ० 105a¹-351a⁴ 'न' वर्ण का खण्ड। भोटी रूपान्तर में 35 परिवर्त व अध्याय मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि नेपाल से जो पोथी तिब्बत में गयी थी, वह और त्रिवेन्द्रम से प्राप्त पोथी एक नहीं है।
2. गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रस्तुत यह शोध-प्रबन्ध अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है।
3. ऋग्, साम, यजुष् और अथर्व वेदों में ऋषि लोगों ने मन्त्र का संगायन कर देवताओं का आवाहन किया था। इसलिये मन्त्र शब्द का प्रयोग मनन के अर्थ में अति प्राचीनकाल से प्रचलित है। मन् धातु के अर्थभेद से मन्त्र का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। यथा मनति कदर्थे, पूजयति सदर्थे, पूजनं मननमिति। मन विचारणे आदि भिन्नार्थक प्रयोग हैं। मननात् त्रायते अर्थात् मनन से रक्षा करता है। (मन् धातु से त्रल्) यह मन्त्र का सामान्य अर्थ है।
4. प्राकृत में मनातो और मन्तो दोनों रूप मिलते हैं, अपभ्रंश में भी सरहपाद ने भी मन्तो तन्तो प्रयोग किया है। जैन अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में भी मणनाद मन्तो है। मलवाणिया जी के द्वारा रचित पाउड सद्गुणवो प्राकृत शब्दकोश देखिये (अहमदाबाद, 1952)।

पालि विनयपिटक के महावग्ग में “मंतानं सविती (साविथी) सेट्टा”¹ आदि उदान गाथा में यह स्पष्ट है कि मन्त्र की गरिमा बुद्धपूर्व आमल से प्रचलित थी। पुनरपि मूलसर्वास्तिवादी विनयवस्तु में सर्पविष के नाश के लिये मन्त्र का प्रयोग बौद्ध वाङ्मय में उपलब्ध है। जैन प्राकृत और अर्धमागधी भाषा में भी मन्त्र का प्रयोग इतस्ततः मिलता है। राक्षस, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व आदि सत्त्व भी पहले मन्त्र की शक्ति से अपनी-अपनी शक्तियों का निष्पादन करते थे। बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध ने उन मन्त्रों का संशोधन कर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय प्रयोग किया है। परन्तु परित्ता मन्तादि का प्रयोग बौद्ध समाज में प्रारम्भ से प्रचलित था।

उपर्युक्त विवरण से मन्त्र के उद्भव का संकेत बौद्धवाङ्मय में स्पष्ट है। किन्तु मन्त्रनय का विशेषत्व महायान के विकास से बहुल परिलक्षित है। मन्त्र के प्रयोग से बुद्धत्व की प्राप्ति ही मन्त्रनय का प्रतिपाद्य है। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में मन्त्र की प्रशंसा इतस्ततः विद्यमान है। जैसे इन ग्रन्थों के प्राचीन गाथा पटल में—

मन्त्र अशेष तु सिद्ध भवेया

उत्तम योनि गति लेभे ।

उत्तमि धर्मि समाश्रयि नित्यं

विघ्न विवर्जित सिद्धि भवेया ॥²

अर्थात् अशेष मन्त्र से सिद्ध होगा तो अन्य योनि में पुनर्जन्म होगा, सदा उत्तम धर्म में समाश्रित होने से विघ्न से विवर्जित सिद्धि की प्राप्ति होगी।

और भी कहा है—

विधियुक्ता हि मन्त्रा वै क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयात् ।

पश्यते फलनिष्पत्तिं नाफलं मन्त्रमुच्यते ॥

इहैव जन्मे सिध्यन्ति मन्त्रा फलसमोदिता ।

न निष्पत्ति फलकर्मणां नाफलं कर्ममिष्यते ॥³

1. विनयपिटक महावग्ग, पृष्ठ 246 पालिभाषा में (पी० टी० एस०, सं० 12) मन्त्र का विशिष्टार्थक प्रयोग मिलता है। रीस डेविड्स का पालि-आंग्लकोष (दिल्ली 2003) देखिये।
2. आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प-गाथा पटल (मिथिला संस्करण, पृ० 126, गाथा 30)।
3. वहीं, एकाक्षरमूलमन्त्रहृदयकल्प, मिथिला सं०, पृ० 235, प्रत्येकबुद्ध लोग भी मन्त्र का प्रयोग करते हैं। (मि० सं०, पृ० 201, श्लो० 75)

विधियुक्त होकर मंत्र का आश्रय करने से सिद्धि तुरंत प्राप्त होगी, जिससे निष्पन्न फल का दर्शन होगा। मन्त्र अफल(वान्) नहीं है। इसी जन्म में मन्त्र सिद्ध होते हैं। कर्मों के फल की निष्पत्ति न होने पर कर्म अफल(वान्) नहीं होता है।

मन्त्र के द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति

आर्यललितविस्तर सूत्र में बोधिसत्त्व ने सर्वसिद्धार्थ बोधिमण्ड में गमन कर जिस प्रकार का कर्म किया था उसका वर्णन है। उन्होंने यावसिक स्वस्तिक से जो तृण संग्रह किया था, उस मुट्ठीभर तृण को हाथ में लेकर बोधिवृक्ष की सात बार प्रदक्षिणा की थी। उस बोधिवृक्ष के मूलदेश में वह तृण भूमि पर बिछाया था। वहाँ पर बोधिसत्त्व पूर्वमुख होकर ऋजुकाय से बैठे थे। प्रणिधान अभिमुखी स्मृति को उपस्थापन कर बोधिसत्त्व ने इस प्रकार समादान व प्रतिज्ञाग्रह किया था—इस आसन में बैठे-बैठे मेरी त्वचा, हड्डी और मांस लय हो जावे तो भी मैं बहुत-बहुत कल्प से दुर्लभ जो बोधि है उसको प्राप्त करूँगा ही करूँगा। उस बोधि के न मिलने तक मैं इस आसन से टलूँगा नहीं।¹ इस संवर का समादान कर बोधिसत्त्व ने बुद्धत्व प्राप्त किया था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बोधि लाभ के लिये बोधि की अभिमुखी स्मृति का उपस्थापन आवश्यक है। यह प्रणिधान का प्रथम चरण है। आर्यललितविस्तर में उन्नीसवें परिवर्त से बाईसवें परिवर्त तक चार अध्याय में बोधिसत्त्व के द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति का क्रम, बोधिमण्डव्यूह में विराजमान स्थिति का वर्णन, मारघर्षण और अभिसम्बोधन मिलता है।² यह महत्त्वपूर्ण निर्देश है। ये पारमितानय और मन्त्रनय के द्वारमुख हैं।

पारमितानय में शील आदि पारमिता की चर्या के साथ ही प्रज्ञा की ओर चित्तधर्म और चैतधर्म का संप्रसारण होते-होते प्रज्ञापारमिता अभिमुखी चित्तोत्पाद उजागर होता है, यह क्रम मन्त्रनय में उत्पन्नक्रम का आनुपूर्विक कहलाता है। संस्कृत और सास्रव चित्त चैत्य धर्मों से उतर कर असंस्कृत अनास्रव निर्वाण अभिमुखी अचित्त बोधिप्राप्ति है। यह व्याख्या का विषय नहीं है, प्रज्ञोपाय समायोग से उपलब्ध होता है।

1. इहासने सुष्यतु मे शरीरं अस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।

अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमतश्चलिष्यति ॥

(लेफमान सम्पादित, हाले सं०, पृ० 289, पंक्ति 19-20)

2. वहीं, अध्याय 20-22

आर्य मञ्जुश्रीमूलकल्प की ग्रन्थना आर्यललितविस्तर सूत्र की तरह ही गाथा श्लोक एवं गद्यांश से भरी हुई है। इनमें से गाथा के अंश अति प्राचीन हैं। श्लोक प्राचीन हैं। गद्यांश में प्रायः मन्त्रों के प्रयोग और कर्मविधान को दर्शाया है। सोलहवें अध्याय गाथा पटल निर्देशविसरं में यह अति प्राचीन खंडमात्र मिलता है, परन्तु श्लोकों में विस्तार से विषयों का वर्णन मिलता है। इस अंश की प्राचीनता का निर्णय करना कठिन है। सम्भवतः संस्कृत पोथी में परवर्तीकालीन संयोजन संप्रसारण बहुत सा दीखता है, जो अंश चीनी भाषा में तथा भोटी भाषा के रूपान्तर में नहीं है।

परन्तु इसमें शाक्यपुत्र के बोधिलाभ का वर्णन इस प्रकार है—“महानदी (नैरञ्जना) से परिवेष्टित तरुमूल मुद्रा को देखने से ही हर्ष हो आया था। उस महावृक्ष अश्वत्थ के मूलदेश में मैंने अश्वत्थता लाभ किया था, जहाँ मेरे बैठने पर अनेक प्रकार के विघ्नों से मारसैन्य ने आक्रमण किया था, बाद में उनका सेनादल भग्नमनोरथ होकर अपने भवन में परावृत (वापस) हो गया था। इसलिये मैंने बहुत प्रकार के मन्त्र तन्त्र बोला था और अनेक प्रकार के प्रयोग, ध्यान और ज्ञान का विषय कहा था। वहाँ पर तीन यान (श्रावकयान, प्रत्येक-बुद्ध्यान, बोधिसत्त्वयान) की चर्याएँ सबके लिये प्रकाशित की थीं। उसके बाद मैं उस बिल्ला (गाँव) में गया, स्नान किया और ऋषि (नदी काश्यप) को प्रव्रज्या प्रदान की।”¹

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो दो वैपुल्यसूत्रों की वर्णनशैली एक जैसी नहीं है और विषय का भेद भी दृष्ट होता है। यह उल्लेखनीय है कि यह श्लोकांश आलोच्य आर्य श्रीमञ्जुश्रीमूलकल्प के भोटी रूपान्तर में भी उपलब्ध है, परन्तु अध्याय की संख्या और

-
1. तथैवाहं तं तरुं दृष्ट्वा पर्णशाखोपशोभितम् ।
 महावृक्षं महाच्छायं मूलगूढोपशोभितम् ॥ 31 ॥
 अश्वत्थेऽश्वत्थतां गच्छेत् तरुमूले निषद्य वै ।
 धृतिं तत्राभिविन्दामि ध्यानं चापि समाधिकम् ।
 प्राप्तं तत्र अनाशा वै रात्र्यन्ते जातिरंतकम् ॥ 32 ॥
 मारेण बहुधा विघ्ना अनेकाकारसुयोजिताः ।
 भग्नसैन्यपरावृत्य गतोसौ स्वभवनं पुनः ॥ 33 ॥
 तदर्थे मन्त्रतन्त्रं वै भाषिता बहुधा पुनः ।
 अनेकाकारप्रयोगा ध्याना ज्ञानाश्च भाषिता ॥ 34 ॥
 त्रिधा यानं पुनस्तत्र चरितं सर्वसेवितम् ।
 प्रतिरक्षा हि दोषाणां त्रिधा चैव प्रकाशितम् ॥ 35 ॥ (आ० म० मू० क०, पृ० 453)

श्लोकों की गणना में अन्तर है। आर्य ललितविस्तरसूत्र में भी मारघर्षण परिवर्त में गद्य, पद्यांश और गाथाएँ हैं। मार का ससैन्य आविर्भाव और उसके पराभव का वर्णन विस्तार से उपलब्ध है।

प्रसंगतः आर्यललितविस्तरसूत्र में मारपुत्र सार्थवाह की एक उक्ति उल्लेखनीय है—

यस्य मानञ्च मोहश्च मीमांसा च न विद्यते ।

विलोमं यदि विद्वांसो नासौ शक्यश्चिकित्सितुम् ॥¹

जिसके चित्त में अभिमान, मोह, संशय नहीं है उनके अलावा विद्वान् यदि विलोम (विधि का प्रयोग) न करें तो सुधारना संभव नहीं है। इसलिये वैपुल्यसूत्र में मार की सेना के लोगों के नाम और उनकी उक्तियाँ ग्रंथित हैं। जैसे—शतबाहु, दीर्घबाहु, भयंकर, अनुपशांत, रतिलोल, वामजव, सर्वचंडाल, दुश्चिंतित आदि। मारपुत्री लोग स्त्रीमाया के द्वारा बोधिसत्त्व को प्रमथित करने का प्रयास किये थे। मार के पुत्र पुत्री सेनाबल में सब दुश्चरित और भद्रसेन की तरह कौकृत्यपरायण नहीं थे। उनमें से सुचिंतितार्थ, धर्मरति, धर्मकाम आदि भी थे। पुनरपि एकाग्रमति, अचलगति आदि मारपुत्र भी मारबल में सहायक थे। अतएव सूत्र और तन्त्र की क्रियाएँ और विधान शील आदि सुचरितों के ऊपर निर्भर करते हैं। मूलतया सूत्र और तन्त्र का प्रकरणभेद होने पर भी विषयभेद नहीं है, क्योंकि दोनों का बुद्धत्व प्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य है।

मन्त्रनय का विकास

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प मुख्यतः क्रियातन्त्र का कल्पविधान है। तन्त्रक्रिया सापेक्षयोग और अनुत्तरयोग का सोपान है। जिसमें सिवाय क्रियायोग से मन्त्रनय का विकास संभव नहीं है। मन्त्रनय का मूल विभाजन पाँच प्रकार का है—क्रिया, चर्या, योग, योगोत्तर, अनुत्तरयोग और योगनिरुत्तर। यह सामान्य पृथग्जन के ज्ञान से चतुर्थानन्द प्राप्ति या बुद्धत्वलाभ तक पर्याय भेद है। इस को उजागर करने के लिये मन्त्र का स्थान आलोच्य मूलतन्त्र में स्पष्ट किया है।

मन्त्र के साथ मूर्ति का सम्बन्ध है। इसलिये आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में पटविधान का नियम और पटचित्र के मन्त्रप्रयोग पर ध्यान रखा गया है। अर्थात् साकारयोगाचार के

1. आर्यललितविस्तरसूत्र (वही संस्करण, पृ० 305, पंक्ति 35) इत्यादि; मारघर्षण परिवर्त, पृ० 299-343 द्रष्टव्य।

आधार पर खड़ा होना प्रथमतः वज्राचार्य का करणीय है। पटविधान की शंसा (बार-बार आर्यमञ्जुश्री माता तारादेवी के पटचित्र को सामने रखकर मन्त्र की अनुशंसा) इस प्रकार है—

वाचनादेव कायेऽस्य पूजना वाप्यनुमोदना ।

मन्त्रसिद्धिर्ध्रुवा तस्य सर्व कर्मे प्रकल्पिता ॥

यावन्ति लौकिका मन्त्रा भाषिता ये जिनपुंगवैः ।

तच्छिष्यखड्गिभिर्दिव्यैः बोधिसत्त्वैर्महात्मभिः ॥

सिद्ध्यन्ते सर्वमन्त्रा वै पटस्याग्रनुमग्रतमिति ।¹

अर्थात् साकारयोग के प्रारम्भ में कायिक वाचिक क्रिया से अनुमोदना एवं पूजना करनी चाहिये।

सिद्धि के लिये लौकिक मन्त्र का प्रयोग पट के सामने करणीय है। इस मन्त्र का सामान्य विभाजन किया है—लौकिक मन्त्र और लोकोत्तर मन्त्र। पुनरपि लौकिक मन्त्र भी दो प्रकार का है—आर्य मन्त्र और अनार्य मन्त्र² मन्त्र के राव का भी ध्यान रखा गया है। किन्तु लोकोत्तर मन्त्र अराव व अरुत मन्त्र है। वह निराकार-योगाचार है। इस प्रसंग में आर्यलंकावतारसूत्र एक अभिनव योगाचार का सूत्र है। जिससे साकार और निराकारयोग अर्थात् सालम्बन और निरालम्बन योग का विधान स्पष्ट है। इस प्रसंग में आर्यलङ्कावतार-सूत्र में—

काश्यपः ककुच्छन्दश्च कोनाकमुनिरप्यहम् ।

भाषामि जिनपुत्राणां समतायां समुद्यतः ॥

यस्यां च रात्र्यां धिगमो यस्यां च परिनिर्वृतः ।

एतस्मिन्नन्तरे नास्ति मया किञ्चित् प्रकाशितम् ॥

1. आ० म० मू० क० (मि० सं०, पृ० 47, श्लो० 66-67)।

2. वही, पृ० 33, “सर्वेभ्यः आर्यानायेभ्यः निवेद्यग्रहणेन शाल्योदनं दध्मोपेतं मधुपायस-विशेषविशेष्योप-रचितधृतपक्वापूपान् अशोकवर्तीखण्डखाद्यकाद्यां सर्वं तथागतेभ्यो निर्यातयेत्। ...विशेषतः तथागतकुले जातीकुसुमं, पद्मं पद्मकुले, तथा कुवलयं कुलिशपाणे, अन्यमन्येभ्यो इतरमिति, कर्पूरधूपं तथागतकुले, चन्दनं पद्मकुले, तथा गुग्गुलं गुह्यकेन्द्रस्य वज्रिणस्यैव शस्यते। अन्यमन्येभ्यः सर्वेभ्यो धूपं दद्यात्। इतरधृतप्रदीपानामन्येभ्यः सर्वेभ्यश्चैव दापयेत्। अनार्येभ्यो मन्त्रेभ्यः सुगन्धतैलं तु दापयेत्।”

बौद्धतन्त्र में कुल सम्बन्धित विचार के लिये धीः पाँचवाँ खण्ड द्रष्टव्य। निबन्ध-लेखक ने विस्तार से दिवंगत विद्वान् के द्वारा सम्पादित तान्त्रिक बुद्धिज्म अंग्रेजी ग्रन्थ में तथागतकुल आदि का विषय प्रस्तुत किया है। (दिल्ली मनोहर प्रकाशन, 1999)

प्रत्यात्मधर्मस्थिति तां संधाय कथितं मया ।

तैश्च बुद्धैर्मया चैव न च किञ्चिद्विशेषितम् ॥¹ (3.6-8)

काश्यप, ककुच्छन्द, कोनाकमुनि (कनकमुनि) और मैंने भी जिनपुत्र लोगों की समता को प्राप्त किया था। जिस रात्रि में असङ्ग ज्ञान (बोधि) अधिगत हुआ और जिस रात्रि में वह परिनिर्वृत हुआ था। इन दोनों के बीच मैंने कुछ भी प्रकाश नहीं किया। अपने-अपने धर्मों का विषय (प्रत्यात्म धर्म) जो कुछ कहा था, वह पूर्वोक्त बुद्धवचनों से कुछ विशेष नहीं है। यह अराव मन्त्रनय है। द्वितीय और तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन का विषय श्रावकजन की कोटि से बाहर का है अर्थात् उनका विषय नहीं है। वह अभिसम्बोधि का अधिगम (विषय) है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प के सन्निपातपटल (प्रथम अध्याय) में भगवान् शाक्यमुनि ने शुद्धावासभवन में विराजित अगणित ज्योतिपुंज प्रमाण देवपुत्रों को बुद्धचक्षु से दर्शन किया था। तब शाक्यमुनि समाधिसमापन्न थे। उस समाधि का नाम विशुद्धविषयज्योतिविकिरण-विध्वंसिनी समाधि था।² सामान्यतः चार प्रकार के ध्यान विकल्प विचार से अतीत प्रीति सुखादि के समाधि में सीमित हैं, समापत्ति की सूचना अनन्त आकाश में व्याप्ति की समापत्ति से होती है। अत एव मन्त्र का राव कामावचर आदि लोकों में श्रुत है, जिसको आर्यमन्त्र अनार्य मन्त्र आदि का भेद प्रतीत है, वह लौकिक मन्त्र है। लोकोत्तर मन्त्र अराव है। इसलिये मन्त्रार्थ को छह कोटि में विभाजित किया है³, जिसमें अरुत मन्त्र भी एक भेद है। शून्यता ही अरावमन्त्र लोकोत्तर वाक्पथातीत परमार्थसत्य है। अतः शून्यता की भावना के बिना लौकिक मन्त्र का अधिष्ठान साकार मूर्ति का आवाहन, विसर्जन आदि क्रिया,

1. आर्यलंकावतारसूत्र, बुनिओ नंजिओ द्वारा संपादित जापान संस्करण द्रष्टव्य।
2. पालिवाङ्मय में 'ज्ञान' शब्द 'ज्ञ' धातु से निष्पन्न है। बुद्धघोष ने 'आरम्भन' 'उपनिज्ज्ञानतो पच्चनिको ज्ञापनतो व ज्ञान' कहा है। अर्थात् वस्तु व विषय पर आश्रित भावना, जिसमें मन से क्लेश व ज्वलन का उपशम हो पावे। चित्त में शान्त भाव का अनुभव हो, वही ज्ञान व ध्यान है। परन्तु वह चार-पाँच स्तर में विन्यस्त है। सविकल्प सविचार, अविकल्प अविचार, प्रीतिसहगत ध्यान, सुखसहगत ध्यान। धम्मसंगनी में समापत्ति को चार भागों में बाँटा है। ज्ञान और समापत्ति से चित्त समाधि अभिमुख होता है, यथा—आकाश अनन्त—आयतन ध्यान, विज्ञान अनन्त आयतन ध्यान, उच्चगत ध्यान, समापत्ति से संज्ञा को निरोध का 'संज्ञा वेदयति नासंज्ञा वेदयति' स्थिति में उन्नीत होता है। समापत्ति के साथ समाधि का संयोग लौकिक से लोकोत्तर का संयोग है। अन्यत्र आलोच्य है।
3. षट्कोटि व्याख्या टीका में चन्द्रकीर्ति ने गुह्यसमाजतन्त्र की अर्थप्रतीति के लिये बुद्धवचन को षट्कोटि में विभाजित किया है—जैसे यथारुत, संधायभाषा, नीतार्थ, नेयार्थ, नसंध्या और अरुत है। (जायसवाल शोध संस्थान पटना से प्रकाशित, सम्पा०-स्व० चिन्ताहरण चक्रवर्ती, 1984)

मण्डल विधान, मुद्राओं का ज्ञान सम्भव नहीं है। साधनमाला आदि में सर्वत्र शून्यता की भावना को अपरिहार्य माना है।

लौकिकमन्त्र और शब्दज्ञान

वाच्य और वाचक की सापेक्षता लौकिक मन्त्र के लिये अनिवार्य है। आर्य मञ्जुश्रीमूलकल्प की संस्कृत पोथी में शब्दज्ञान विषय पर विस्तार से विवेचना है। यह सब सत्त्वों, सबभूत (जड़, अजड़ सत्तामात्र) से सम्बन्धित राव ज्ञान का विषय है।

डकार बहुला वाचा लकारादव्यक्तमार्षो ।
दक्षिणात्या यथा वाचा चंचला भवति निन्दिता ॥

× × ×

आकृष्टा मंत्रिभिः क्षिप्रं स्वयं वा इहमागता ।
बहुधा गृह्णन्ति सत्त्वानां मातरा सग्रहा सुरा ॥

(अ० म० मू० क० 22.43-46)

इस प्रकार से स्थानविशेष में शब्द की ध्वनि का भेद लक्षणीय है, जैसे दक्षिणदेशवासी लकार की जगह डकार ध्वनि उच्चारण करते हैं। मन्त्रज्ञ एवं विध विचार में क्षिप्र अवहित होता है। मनुष्य से इतर पशु-पक्षियों के राव का ज्ञान मन्त्रज्ञ व मन्त्री को अवहित होना आवश्यक है।

अधुना बोधयिष्यामि तिर्यग्भाषां समानुषाम् ।
नारकाणां तु भाषां वा कथ्यमानां निबोधताम् ॥
यदा पक्षिगणाः सर्वे संनिपत्य समंततः ।
ग्रामवासं तदा चक्रुः मध्याह्ने जनमालये ॥
तदा ते कथये वाचा रेफयुक्तां सभैरवाम् ।
क्रकः ककारमित्याहुः काक ये क्रूरभाषिणो ॥
कथयन्ति भयं तत्र क्षुधां चैव च दर्शयेत् ।
मयूरा कोकिलश्चैव संनिपत्य प्रगे तदा ॥

क्रूरं दर्शयेद्वाचां भयं तत्र निवेदयेत् ।
बुभुक्षां कथयामास आहारं चैव योजयेत् ॥

(आ० म० मू० क० 22.144-148)

इसी प्रकार शिवाराव का लिंगार्थ व लक्षण की सूचना भी मन्त्रविद् को जाननी चाहिये। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में—

शिवा ये सर्वतो ज्ञेया दक्षिणेन फलप्रदा ।
तत्सर्वं सिंहतो ज्ञेयं शिवान्नु सर्वदा ॥

क्रूरा अशोभना रावा दीना मृत्युपरायणा ।
सर्वतो सुखनिष्पत्तिं फलं सत्यसमुद्भवम् ॥ (22.196-97)

लोमड़ी को दक्षिण भाग में देखने से फलप्रद होता है। सिंह को देखना भी उपलक्षण शुभ व कल्याणकर है। किन्तु अशोभन क्रूर राव मृत्युदायक दीन लक्षण है। राव व शिवारुत से मन्त्री को सत्य का ज्ञान और फललाभ होता है। रात्रिभाग में प्रहर-प्रहर में शिवाराव के लक्षणार्थ का उल्लेख है। (आ० म० मू० क० 22.199-204)

अतएव शब्दज्ञान के साथ मन्त्र के वर्ण, पद आदि का प्रयोगविज्ञान मन्त्रनय का अंग है। मन्त्र यथा राव अथवा अराव है। वर्ण मातृका है। मातृका का सम्यक् ज्ञान प्रत्यय है। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में एकाक्षरमन्त्र का विन्यास और एकाक्षरमन्त्र का प्रयोग विस्तार से विवृत है। वर्ण का उच्चारण स्थान के साथ परावाक् से चतुर्था क्रम से रावप्रकाश का स्पष्ट उल्लेख है। जैसे—

नोत्पद्यन्ते तथा मन्त्रा विना प्रत्ययमाश्रया ।
न तां दिदृक्षुः सर्वत्र मन्त्रां प्रत्ययतो शिवाम् ॥
अर्थप्रत्ययतां शून्यां धातवैश्च विवर्जिताम् ।
न तां विद्धि संयोगं लिङ्गवाक्यार्थसंमतम् ॥
न लिङ्गे गति निर्दिष्टा हेतुप्रत्ययधातुजा ।
तथा च योजिता सिद्धिर्लिङ्गे धर्मार्थयोजिता ॥
गतिदेशक्रियानिष्ठं पदं वाक्यमतः परम् ।
चित्रत्वगति वा शब्दे यो वाचमवसृजेत् सदा ॥

न शब्दार्थ निष्पत्तिर्लिङ्गेष्वेव तु योजिता ।
मूर्धजं कथितं शब्दं हूंकारार्थभूषितम् ॥

(आ० मू० मू० क० 23.10-14)

ऋजिक्षुः सर्वतो लोकां विसर्गो धातुचेष्टितम् ।
गतिमन्त्रप्रभावेन आश्रयान्तां निबोधताम् ॥ (आ० म० मू० क० 23.18)

यहाँ मन्त्र को विद्यारूप सर्वत्र गतिसम्पन्न माना गया है, किन्तु प्रत्यय से अनाश्रित नहीं है। प्रत्यय की आश्रय के बिना उत्पत्ति नहीं है। तथापि सर्वत्र दर्शनीय नहीं है। प्रत्यय से मन्त्र शुभ है। मन्त्र से अर्थ प्रत्यय, धातु विवर्जित होने पर संयोग, लिंग वाक्यसंगत नहीं है, यह बोध अनुचित है, वे लिङ्गादि संयोग न होने से मन्त्र की गति निर्दिष्ट नहीं होती है। अतएव मन्त्र हेतुप्रत्यय, धातु से जात है। वाचन गान गति देश और क्रिया पर निश्चित रूप से स्थापित है। पद वाक्य आदि इनसे पर है। क्योंकि शब्द के वाचन से चित्रभाव का अवसर्जन होता है। हूँकार शब्द से अर्थ का विभूषण, शब्दार्थ निष्पत्ति लिंग आदि से संयोग नहीं किया जाता है¹, क्योंकि हूँकार शब्द मूर्धा से उद्गत ध्वनि है। वह (वायुगति को) ऋजु करने पर सब लोक में विसर्ग अर्थात् विसर्जन धातु से प्रत्ययायित होता है। अतः मन्त्र की गति के प्रभाव से मन्त्र के आश्रय का ध्यान से बोध होना आवश्यक है। यह बुद्धवाक्य है। नीदरलैण्ड की विदुषी भाषाविद् श्रीमती पिक्टेर कर्नेलिस मेरागेन ने मन्त्र और शब्दशास्त्र पर प्रकाश डाला है। वह निबन्ध केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ से प्रकाशित है²

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प

संक्षेप में इसको मूलतन्त्र कहा जाता है, क्योंकि बौद्धतन्त्र के तीनों प्रस्थान इसमें उपलब्ध हैं—हेतुतन्त्र, फलतन्त्र और उपायतन्त्र, साधन के लिये औपयिक क्रमों का विस्तार से वर्णन इसमें (त्रिवेन्द्रम सं० 8म 9म पटल) है और हेतुतन्त्र का विषय मन्त्र, मूर्ति, मुद्रा और महामुद्रा नियम के विधान बार-बार पटलों में उल्लिखित हैं। अन्ततो गत्वा फलतन्त्र की भी पुष्टि की है। शुद्धावासभवन में भगवान् शाक्यमुनि के विराजते समय इस कल्प का प्रवचन हुआ था।

1. हूँकार की मातृका पर अनागारिक गोविन्दजी का अध्ययन द्रष्टव्य।
2. सारनाथ से प्रकाशित 'अस्पैक्ट ऑफ़ संस्कृत बुद्धिज्म' ग्रन्थ में यह निबन्ध है।

बौद्धतन्त्रों में उपाय चार प्रकार का है। यथा—सेवाविधान, उपसाधन, साधन और महासाधन। शून्यताबोधि, वज्रसंहति, बिम्बनिष्पत्ति और अक्षरन्यास के आधार से बौद्धतन्त्र को बहुधा विभाजित किया है। अर्थात् मध्यमक और योगाचार के युगपद् विकास से मन्त्रनय का प्रचार-प्रसार अनिवार्य है। योगाचार की साकारवादी दृष्टि और निराकारवादी दृष्टि का विकास मण्डलविधान द्वितीय पटल में परिस्फुट है, जिसमें मन्त्र का प्रयोग तथा अक्षरन्यास से कुमारभूत मञ्जुश्री का परमगुह्य मण्डलतन्त्र के प्रकाशित होने की सम्भावना आई थी।

मन्त्रनय केवल मात्र मन्त्रपाठ व मन्त्रजप नहीं है। मन्त्र, मुद्रा, मूर्ति महामुद्रा आदि सब मन्त्रनय के अंग हैं। इसलिये आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प बौद्धतन्त्र का मूलतन्त्र है। यह मन्त्रनय के विकास में आकर ग्रन्थ है। कुमारभूत मञ्जुश्री का हृदयमन्त्र इस प्रकार है—

मञ्जुश्रियस्य हृदयोऽयं मकारो मन्त्रसंयुतः ।

उकारगतिनित्यज्ञः आसील्लोके प्रवर्तितः ॥

अमितायुर्ज्ञानाब्जेन विनिश्चितार्थः प्रकाशितः ।

मञ्जुघोषस्य बुद्धेन प्रवृत्तोऽयं वशहेतुना ॥

(आ० म० मू० क० 27.11-12)

•

—જાલછેન નમડોલ—

अतः यहाँ इस ग्रन्थ के मूल भोट पाठ का समीक्षात्मक सम्पादन, संस्कृत भाषा में पुनरुद्धार एवं हिन्दी भाषा में अनुवाद किये गये हैं। ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय देते समय इस स्तोत्र में प्रतिपादित त्रिरत्नों के गुणों पर प्रकाश डालते हुए खास-प्रयोजन के कारण त्रिशरण की व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। इस स्तोत्र पर आचार्य जिनपुत्र द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण वृत्ति भी तन्त्रपुर संग्रह में उपलब्ध है। लेकिन यहाँ विस्तार भय से उसका पुनरुद्धार आदि कार्य नहीं किया गया है।]

(क) मूल भोट-पाठ

(རིག་པ་དུ་འཇམ་དཔལ་ཙ་རྒྱུད་ལས། “དག་སྒྲིང་མང་དུ་སྦས་པ་ནི། ཉེ་ཡི་ཆོ་ནི་འབྱུང་འབྱུང་བ། མཁོ་ལ་
 ཞེས་གྱང་བྱ་བ་སྟེ། ཁ་ནིང་གྱི་ནི་བསྟོད་བྱེད་པ།” ཅེས་རྒྱལ་པའི་ཡུང་གིས་དངོས་སུ་ཟིན་ཅིང་། ལྷན་པ་སངས་རྒྱས་དང་
 དེའི་བསྟན་པ་ལ་བསྟོད་ཅིང་བསྟགས་པའི་ཤེང་བ་རབ་དུ་སྟེལ་བ་ལ་འགྲན་པའི་སྒྲ་མེད་ཅིང་། ཆོག་སྒྲིང་རྒྱལ་ལ་མཁས་
 པའི་ངག་གི་དཔལ་ལྷན་སྤུམ་ཆོགས་པའི་ལམ་ནས་རྩ་ཙ་ལ་གྱི་དཔལ་ལ་ཁྱ་མཆོག་རྒྱལ་པོ་ཆེའི་གནས་ཐོབ་པའི་མཁས་
 པ་ཆེན་པོ་སྟོབ་དཔོན་མཁོ་ལ་ལས། སྟོབ་དཔོན་དཔལ་པོའས། སྟོབ་དཔོན་ཏྲ་དབྱངས་ཞེས་བྱ་བས་མཛད་པའི་བསྟོད་པའི་
 གཞུང་གིན་དུ་མང་ཞིང་། དེ་དག་གི་ཁྱོད་ན་མཆོག་གསུམ་གྱི་བསྟོད་པ་ཟབ་བསྐྱིད་གྲགས་ཅན་འདི་ཆོགས་བཅད་དང་བཞིའི་
 བདག་ཉིད་ཅན་དུ་བརྟགས་གིང་། མཆོག་གསུམ་སྤྱིའི་དབང་དུ་བྱས་ནས་བསྟོད་སྟག་མཛད་པའི་ཆོགས་བཅད་དང་པོ་འདི་

གཞུང་མང་པོའི་ནང་ཁྲུང་ས་བཞོད་མཛད་ཡོད་པ་ལྟར་ལེགས་སྐྱར་སྐད་ཐོག་དུ་ཡང་རྟེན་དུ་ཡོད་ཅིང་། ལྷག་མ་མཆོག་གསུམ་སོ་སོའི་ཡོན་ཏན་བཟོད་པའི་ཆོག་ས་བཅད་དེ་དག་ལེགས་སྐྱར་སྐད་ཐོག་དུ་མི་སྐྱར་བས། ད་ལམ་འདིར་གཞུང་འདིའི་བོད་དཔེར་འདྲ་བསྐྱར་བསྐྱར་ཞིབ་དང་འབྲེལ་དེ་ལ་གཞི་བཙུག་ནས་འབྲོ་རྩ་མས་ལེགས་སྐྱར་སྐད་ཐོག་ཉམས་གསོ་དང་། ཆ་ཚང་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བསྐྱར་དང་སྒྲགས། ཇི་ལྟར་སློབ་དཔོན་གྱིས་མཛད་པའི་བསྟོད་པར་གསལ་བ་ལྟར་གྱི་ཡོན་ཏན་ཁྲུང་པར་ཅན་དེ་ལྟར་གྱི་མཆོག་གསུམ་ལ་སྐྱབས་སུ་འགྲོ་ཚུལ་གྱི་རྩ་མ་བཞག་མདོར་བསྐྱར་ཐིག་ཀྱང་དགོས་དབང་གིས་གཞུང་འདིའི་ངོ་སྟོན་ལས་འབྲས་པའི་ཚུལ་དུ་བཞོད་ཡོད།

བསྟོད་པའི་གཞུང་འདི་ལ་སློབ་དཔོན་རྒྱལ་པོའི་སྤྲུལ་གྱིས་མཛད་པའི་འབྲེལ་བ་ཁྲུང་དུ་འཕགས་པ་ཞིག་བསྟན་འགྱུར་བསྟོད་ཆོག་ས་ནང་བཞུགས་ཡོད། འབྲེལ་བ་དེ་ཡང་ཐོག་མའི་ཙོམ་གཞི་ལེགས་སྐྱར་རང་སྐད་ཐོག་དེར་སང་མེད་ཆོད་དུ་སྐྱར་ཞིང་། འདིར་མང་དུ་དོགས་ནས་འབྲེལ་བ་དེར་ཉམས་གསོ་དང་པ་བསྐྱར་སོགས་མ་བྱས་སོ། །)

༄༅། །གྲགས་སྐད་དུ། ཅི་རྩ་སྟོན་¹། བོད་སྐད་དུ། དཀོན་མཆོག་གསུམ་གྱི་²བསྟོད་པ།
དཀོན་མཆོག་གསུམ་ལ་བྱག་འཆལ་ལོ།³ །

སངས་རྒྱས་གཙོ་ལ་བྱག་འཆལ་ལོ། །

སློབ་པའི་⁴ཆོས་ལ་བྱག་འཆལ་ལོ། །

དགེ་འདུན་ཆེ་ལ་བྱག་འཆལ་ལོ། །

གསུམ་ལ་རྟག་དུ་བདག་བྱག་འཆལ། ༡ །

ཆོག་ས་ཆེན་གཉིས་ཇོག་ས་མཁུན་བཞི་སྐྱ་གསུམ་གྲུབ།

1. བོད་དཔེར་མང་པོར་‘སྟོན’ ཞེས་གསལ་ཡང་། ལེགས་སྐྱར་དུ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

2. སྐྱ། བཤེན་གསེར་གྱིས། — གསུམ་ལ་

3. སྟོན་དགེ་དང་། གསེར་གྱིས་གཉིས་སུ་འགྱུར་བྱག་གི་ཆོག་འདི་གསལ་མེད།

4. སྐྱ། བཤེན་གསེར་གྱིས། — སློབ་པ་

རྣམ་རྟོག་མི་མངའ་ཅི་ཡང་ས་ལེ་¹མཁྱེན། །
 ཆོས་སྐུ་མཁའ་འདྲ་གཟུགས་སྐུ་མཛེས་སྐུ་²ལྷན། །
 སངས་རྒྱུ་དཔག་བསམ་འདྲ་ལ་ཕྱག་འཆའ་ལོ། ༢ །
 ཆོས་ཉིད་རྒྱ་མཐུན་གསུང་རབ་བརྒྱ་གཉིས་དང་། །
 ཆོས་ལ་སྐྱེ་འགག་མེད་ཅིང་སྦྱོས་ལས་³དབེན། །
 དེ་ལ་དམིགས་ཏེ་ཡོན་ཏན་ཀུན་གྲུབ་པ། །
 ལེགས་རྒྱ་དམ་པའི་ཆོས་ལ་ཕྱག་འཆའ་ལོ། ༣ །
 ཉོན་མོངས་སྦྱིབ་དང་ཤེས་བྱའི་སྦྱིབ་པ་དག །
 གཉེན་པོས་རིམ་བར་བསལ་ནས་⁴སར་ཞུགས་⁵ཤིང་། །
 སེམས་ཅན་དོན་མཛད་སངས་རྒྱུ་ཞིང་སྦྱོང་བ།⁶ །
 འཕགས་པའི་དགེ་འདུན་ཆེ་ལ་ཕྱག་འཆའ་ལོ། ༤ །

དཀོན་མཆོག་གསུམ་གྱི་བསྟོད་པ་སྦྱོབ་དཔོན་ཆེན་པོ་སྤྱི་ཅེས་⁷མཛད་པ་ཚྗགས་སོ། །

1. ས་ལེ་ཞེས་པ་འགྲེལ་བར་ 'རབ་དུ་གསལ་བར་མཁྱེན་པ་སྟེ་' ཞེས་གསལ་ཡོད།
2. སྐུ་ བཤེས་གསེར་གྱིས། — མཛེས་སྐུར་
3. སྐུ་ བཤེས་གསེར་གྱིས། — སྦྱོས་ལ་དབེན་
4. སྐུ་ བཤེས་གསེར་གྱིས། — བསལ་ནས་སངས་རྒྱུ་སར་ཞུགས་
5. བོད་འགྱུར་གྱི་ཙ་བ་རྣམས་སུ་ 'སར་བཞུགས་' ཞེས་གསལ་ཡང་། འགྲེལ་བར་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད་པ་འཐད་ཆེ།
6. སྐུ་ བཤེས་གསེར་གྱིས། — ཞིང་སྦྱོང་བའི། བཤེས་ཞིང་སྦྱོང་བའི་
7. བོད་དཔེ་རྣམས་སུ་ 'མ་ཉི་ཅེ་' དང་ 'མ་ཉི་ཅེ་' ཞེས་བཀོད་ཡོད་ཀྱང་ 'མ་ཁོ་ལ་' ཞེས་པའི་སྐད་དོད་ལེགས་སྐུར་ལྟར་དུ་ཡོངས་གྲགས་ལ་གོང་གསལ་ལྟར་ཡོད།

महाकवि आचार्य मातृचेट विरचित त्रिरत्नस्तोत्र

(ख) संस्कृतपाठ एवं हिन्दी भाषानुवाद

भारतीय भाषा में—त्रिरत्नस्तोत्रम्

भोट भाषा में—दकोन्-म्होग्-गसुम्-ग्यी-बस्तोद-पा

नमो रत्नत्रयाय

नमो बुद्धाय गुरवे नमो धर्माय तायिने ।

नमः संघाय महते त्रिभ्योऽपि सततं नमः ॥ 1 ॥

गुरु (कल्याणमित्र) भगवान् बुद्ध को नमस्कार, संरक्षक (प्रतिपक्ष मार्ग स्वरूप) धर्म को नमस्कार, एवं पूजार्ह संघ को नमस्कार तथा इस प्रकार इन तीनों रत्नों को बार-बार नमस्कार है ॥ 1 ॥

महासम्भारयुगेन चतुर्जनैस्त्रिकायैश्च सुयुक्तः ।

अविकल्पकज्ञानेन निखिलं स्फुटं हि ज्ञातवान् ॥

गगनसमधर्मतनुना सुरुपेण वै रूपिणा कायेन ।

युक्तः कल्पतरोरिव बुद्धं नाथं नमस्करोमि ॥ 2 ॥

दो महान् सम्भारों से समृद्ध, चार ज्ञान और तीन कायों से सम्पन्न, निर्विकल्प ज्ञान के द्वारा जिन्होंने सभी ज्ञेयों को स्पष्टतया जान लिया है और जो आकाशकल्प (अर्थात् स्वभावतः शून्य) धर्मकाय तथा मनोज्ञ रूपी (सम्भोग और निर्माण) कायों से युक्त हैं, (उस) कल्पद्रुम सदृश स्वामी बुद्ध को (मैं) नमस्कार करता हूँ ॥ 2 ॥

धर्मताहेतुभूतो द्वादशप्रवचनात्मको धर्मो हि ।

सर्वप्रपञ्चरहितो ह्युत्पादनरोधविरहितश्च ॥

यमालम्ब्याखिलगुणाः सिद्धिमायान्त्यचिरेण निश्चयतः ।

तं वै सम्यग्घेतुं सद्धर्मं वै नमस्करोमि ॥ 3 ॥

धर्मता एवं हेतुभूत (जो) द्वादशप्रवचनात्मक धर्म है, (वह) उत्पाद-निरोध से रहित और सभी प्रपञ्चों से (सर्वथा) रहित है। जिसका आलम्बन करके सभी (भद्र) गुण निश्चय ही शीघ्र सिद्धि प्राप्त करते हैं, उस सम्यक् हेतुरूपी सद्धर्म को (मैं) नमस्कार करता हूँ ॥ 3 ॥

क्लेशज्ञेयावरणं क्रमशश्च विनिवार्य प्रतिपक्षेण ।
 भूमिप्रविष्टाश्च ये सत्त्वानां हितविधायिनश्च ॥
 बुद्धानां क्षेत्रस्य हि परिशोधनकर्मणि व्यापृता वै ।
 तस्मै चार्यसंघाय भूयो भूयो नमस्करोमि ॥ 4 ॥

क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का प्रतिपक्ष (मार्ग) द्वारा क्रमशः निवारण करके जो (आर्य) भूमि में प्रविष्ट हैं और सत्त्वों का हित करने वाले हैं तथा बुद्धक्षेत्र की परिशुद्धि करने में निरत हैं, उन महान् आर्य संघों (के समूह) को (मैं) बार-बार नमस्कार करता हूँ ॥ 4 ॥

॥ महाकवि-मातृचेट-विरचितं त्रिरत्नस्तोत्रं समाप्तम् ॥
 ॥ महाकवि आचार्य मातृचेट विरचित त्रिरत्नस्तोत्र समाप्त ॥



संक्षिप्त ग्रन्थ-परिचय

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प तन्त्र में कहा गया है—

तस्मिन् काले भविष्यन्ति भिक्षवो मे बहुश्रुताः ।
 मातृचीनाख्यनामास्तु स्तोत्रं कृत्वा ममैव तु ।
 यथाभूतगुणोद्देशैः यथाकारमभाषत ॥ 53.439 ॥

[अर्थात् उस समय मातृचेट नामक बहुश्रुत भिक्षु होगा, (वह) मेरी स्तुति करेगा (और वह) यथाभूत (वस्तुतः विद्यमान) गुणों का यथायथ (ठीक-ठीक) आख्यान करेगा।]

इस प्रकार महान् आचार्य मातृचेट का भगवान् बुद्ध ने स्वयं उक्त (मञ्जुश्रीमूलकल्प) तन्त्र-ग्रन्थ में साक्षात् व्याकरण किया है। उन (मातृचेट) के द्वारा विरचित भगवान् बुद्ध के सम्यग् गुणों से सम्बद्ध अनेक अद्भुत स्तोत्रों में से अतिसंक्षिप्त इस महत्त्वपूर्ण स्तोत्र में जिस प्रकार त्रिरत्नों के अद्भुत गुणों का साङ्गोपाङ्ग पूर्णता के साथ प्रतिपादन किया गया है, उन्हें देखकर कोई भी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए निर्दोष युक्तियों एवं दृढ़ प्रमाणों से आनीत निश्चय के बल पर ही त्रिरत्न का अनुसरण करते हुए उनकी शरण में गमन करना एवं बुद्धशासन की शिक्षा का ग्रहण करना वस्तुतः अनिवार्य जैसा प्रतीत होता है। जैसे कि स्वयं आचार्य ने अध्यर्धशतक स्तोत्र में कहा है—

सर्वदा सर्वथा सर्वे यस्य दोषा न सन्ति ह ।
 सर्वे सर्वाभिसारेण यत्र चावस्थिता गुणाः ॥ 1 ॥
 तमेव शरणं गन्तुं तं स्तोतुं तमुपासितुम् ।
 तस्यैव शासने स्थातुं न्याय्यं यद्यस्ति चेतना ॥ 2 ॥

[अर्थात् जिस (शास्ता) में सभी (प्रकार के) दोष सदा और सर्वथा नहीं हैं और जिस (शास्ता) में सभी गुण पूर्णरूप से सदा और सर्वथा विद्यमान हैं, उसी शास्ता की शरण में जाना, उन्हीं की स्तुति करना, उन्हीं की उपासना करना एवं उन्हीं के शासन में स्थित रहना न्याय्य (युक्तियुक्त) है, यदि व्यक्ति में (स्वहित की थोड़ी भी) चेतना है। याने व्यक्ति सचेत है तो उसे उन्हीं के शासन में स्थित रहना आदि उचित है। इसी प्रकार आचार्य शंकर स्वामी द्वारा विरचित देवातिशयस्तुति में भी कहा गया है—

यस्य दोषा न विद्यन्ते विद्यन्ते चामिता गुणाः ।
 सर्वज्ञश्च कृपालुश्च तमहं शरणं गतः ॥ 20 ॥

[अर्थात् जिन (शास्ता) में किसी भी प्रकार के दोष नहीं हैं, अपितु जिनमें सभी प्रकार के अपरिमित गुण विद्यमान हैं और जो सर्वज्ञ एवं महाकृपालु हैं, मैं (शंकर स्वामी श्रद्धापूर्वक) उन्हीं की शरण में जाता हूँ।]

इन महान् आचार्यों के महत्त्वपूर्ण उद्गारों के अनुसार अचिन्त्य गुणगणों से अन्वित शास्ता भगवान् बुद्ध तथा उनके द्वारा स्वाख्यात (अच्छी प्रकार वर्णित) आगम और अधिगम रूपी सद्धर्म एवं उस (सद्धर्म) का भलीभाँति परिपालन और अनुष्ठान करने वाले आर्यसंघ—इन तीनों की शरण में जाना परम उपादेय है। इसलिए परलोक (अपर जन्मों) में महान् उद्देश्य की सिद्धि के उपायभूत तथा बुद्धशासन में प्रवृत्ति के प्रथम सोपान के समान शरणगमन की व्यवस्था का यहाँ खास प्रयोजन के कारण संक्षेप में प्रतिपादन किया जा रहा है।

बुद्धशासन में प्रवृत्ति के प्रथम द्वार की भाँति शरणगमन की व्यवस्था में ये चार बातें प्रथमतया प्रमुख हैं—(क) जिन पर आश्रित होकर शरणगमन किया जाता है, उस शरणगमन के हेतु, (ख) उस हेतु के आश्रय से शरणगमन के क्षेत्र का परिचय, (ग) कितने से शरणगमन परिपूर्ण होता है, उसकी प्रक्रिया तथा (घ) शरणगमन के पश्चात् उनकी शिक्षा के अनुपालन का क्रम।

(क) जिन पर आश्रित होकर शरणगमन किया जाता है, उस शरणगमन के हेतु

शरणगमन के आधार (अर्थात् हेतु) भी दो प्रकार के हैं। स्वयं अपने चित्त में विद्यमान शुक्ल (कुशल) कर्मों की दुर्बलता और कृष्ण (अकुशल) कर्मों की बलवत्ता देखकर भावी अत्यन्त भयावह स्थिति का आकलन करके भव (संसार) और दुर्गति के तीव्र दुःखों से अत्यन्त भयभीत होना (प्रथम आधार) तथा उस भय से संरक्षण देने या शरण देने की क्षमता त्रिरत्न में ही है—ऐसा विश्वास होना (द्वितीय आधार)—इस प्रकार शरणगमन के ये दो प्रमुख हेतु हैं। इन दो हेतुओं (आधारों) की प्रभावशालिता के अनुसार शरणगमन भी प्रभावशाली होता है—ऐसा कहा गया है।

(ख) उस हेतु के आश्रय से शरणगमन के क्षेत्र का परिचय

इसमें भी दो बातें ज्ञातव्य हैं—(1) क्षेत्र का परिचय और (2) शरणगमन करने योग्य होने का कारण।

(1) क्षेत्र का परिचय—इसके बारे में तो प्रस्तुत स्तोत्र ग्रन्थ में और उसके आरम्भ में उद्धृत अर्धशतकस्तोत्र और देवातिशयस्तुति के उद्धरणों में स्पष्ट रूप से कह दिया गया है। उनमें प्रदर्शित अद्भुत गुणों से युक्त एवं अविसंवादात्मक शरणस्थल तो निश्चय ही भगवान् बुद्ध, उनके द्वारा उपदिष्ट सद्धर्म और उस (सद्धर्म) का नियमपूर्वक अनुष्ठान करने वाला आर्यसंघ—ये तीन ही हैं। जैसे कि आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित 'शरणगमन-सप्तति' में कहा गया है—

“बुद्ध, धर्म एवं संघ (ये तीन ही) मोक्ष चाहने वालों के (उत्तम) शरण हैं।”

(2) शरणगमन करने योग्य होने का कारण—इस विषय में संक्षेपतः चार कारण द्रष्टव्य हैं, यथा—(1) भगवान् स्वयं समस्त भय से विमुक्त हैं। (2) अन्य सत्त्वों को भय से मुक्ति दिलाने के उपायों में उनमें कुशलता है। (3) प्राणियों के प्रति उनमें किसी के प्रति समीपता या किसी के प्रति दूरी नहीं है, क्योंकि उनमें समस्त सत्त्वों के प्रति समानरूप से महाकरुणा प्रवृत्त है तथा (4) वे हितकारी और अहितकारी सभी प्राणियों के समानरूप से अर्थ (अर्थात् हित या कल्याण) सिद्ध करते हैं। उपर्युक्त ये सभी गुण भगवान् बुद्ध में ही पूर्णतया विद्यमान हैं, न कि किसी ईश्वर, महेश्वर आदि में। अतः वे ही परम शरणस्थल हैं। अर्थात् वे शरणगमन के सर्वथा योग्य हैं। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट सद्धर्म और उस (सद्धर्म) का अनुष्ठान करने वाला आर्यसंघ—इनका भी शरणगमन योग्य होना भलीभाँति सिद्ध है।

(ग) कितने से शरणगमन परिपूर्ण होता है, उसकी प्रक्रिया

आर्य असङ्ग ने अपने योगाचारभूमि-विनिश्चयसंग्रह में इस विषय में चार प्रकार कहे हैं, यथा—(1) गुणों को जानकर, (2) भेद या अन्तर जानकर, (3) स्वीकृति के माध्यम से तथा (4) अन्य को न कहने (अर्थात् अन्य की अस्वीकृति) के माध्यम से। इन चार के माध्यम से शरणगमन करना है।

(1) गुणों को जानकर—गुणों को जानकर शरणगमन करने में भी तीन बातें ज्ञातव्य हैं यथा—

(क) बुद्ध के गुण—बत्तीस (32) महापुरुष लक्षणों एवं अस्सी (80) अनुव्यञ्जनों से युक्त होना—ये कायगुण हैं। प्रियवचन आदि षष्टि ब्रह्मस्वर—ये वाक् के गुण हैं। यावत् (अर्थात् समस्त संवृति ज्ञेयों को) और यथावत् (अर्थात् परम तत्त्व, जैसे वे हैं, ठीक उसी प्रकार) साक्षात् रूप से जानना—यह चित्त के ज्ञान गुण हैं। सभी सत्त्वों के प्रति समानरूप से स्वरसवाही महाकरुणा की प्रवृत्ति—यह चित्त के कृपागुण हैं। ये दोनों गुण (ज्ञानगुण एवं कृपागुण) चित्तगुण हैं। काय, वाक् एवं चित्त के जो कर्म हैं, वे (बुद्ध में) अनाभोग (विना संकल्प के) रूप से तथा निरन्तर प्रवृत्त होते रहते हैं। इनके द्वारा वे समस्त प्राणियों का निरन्तर हित करते रहते हैं। ये बुद्ध के कर्मगुण हैं। ऐसा सर्वदा चिन्तन करते रहना चाहिए।

(ख) धर्मगुण—बुद्ध के प्रति श्रद्धापूर्वक आदर करने को हेतु के रूप में ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि बुद्ध अपरिमित गुणों के आकर हैं। उनका ऐसा होना उनके द्वारा आगम और अधिगम धर्मों का अर्थात् मार्गसत्य और निरोधसत्य का, जो क्रमशः दोष प्रहाणात्मक स्वरूप और सर्वगुण सिद्धिस्वरूप हैं, उनका सम्यग् अभ्यास एवं साक्षात्कार किया गया है। इस कारण वे आदर के पात्र हैं—ऐसा स्मरण करते रहना चाहिए।

(ग) संघगुण—इनमें प्रधानतः आर्य पुद्गलों का ग्रहण करना चाहिए। वह भी, बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्म के गुणों का स्मरण करते हुए संघ उस धर्म के नियमपूर्वक अनुष्ठान में सदा रत है—ऐसा स्मरण करते रहना चाहिए।

(2) भेद या अन्तर जानकर—इस विषय में आर्य असङ्ग ने अपने योगाचारभूमि विनिश्चयसंग्रह में जैसे कहा है, तदनुसार तीनों रत्नों के परस्पर भेद या अन्तर को जानकर शरणगमन करना चाहिए। इसमें लक्षण से होने वाले अन्तर आदि छह अन्तर कहे गये हैं।

(3) स्वीकृति के माध्यम से—स्वीकृति के माध्यम से शरणगमन तो बुद्ध को (धर्म के) निर्देशक के रूप में, धर्म या निर्वाण को मौल (प्रधान) शरण के रूप में तथा

संघ को उस (धर्मसिद्धि) के सहयोग देने वाले मित्र के रूप में स्वीकार करके शरणगमन करना चाहिए।

(4) अन्य को न कहने (अर्थात् अस्वीकृति) के माध्यम से—बौद्ध एवं बौद्धेतर के शास्ता, शासन एवं उनकी शिक्षा को ग्रहण करने वालों को उन (तीनों में) वर (श्रेष्ठ) एवं अवर (हीन) भाव को जानकर केवल त्रिरत्न को ही उत्तम शरणस्थल के रूप में ग्रहण करना चाहिए, न कि इसके विपरीत शास्ता, शासन आदि को शरणस्थल के रूप में ग्रहण करना है। अन्य शास्ता और शासन के अन्तर (भेद) तो आचार्य उद्भटसिद्ध स्वामी के विशेषस्तव और आचार्य प्रज्ञावर्मा द्वारा विरचित उसकी टीका आदि में अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है, उसका अवलोकन करना चाहिए।

(घ) शरणगमन के पश्चात् उनकी शिक्षा के अनुपालन का क्रम

इसके दो भेद हैं, यथा—(1) आचार्य असङ्ग के विनिश्चयसंग्रह से निर्गत एवं (2) (भोट आचार्यों के) उपदेशों से निर्गत।

(1) आचार्य असङ्ग के विनिश्चयसंग्रह से निर्गत (प्रादुर्भूत)—इस प्रथम भेद में दो चतुर्वर्ग हैं, यथा—सत्पुरुषों का समाश्रय लेना आदि प्रथम चतुर्वर्ग तथा शिक्षा के आधार को समुचित ढङ्ग से ग्रहण करना आदि—यह दूसरा चतुर्वर्ग है।

(2) उपदेशों से निर्गत (प्रादुर्भूत)—इसके अन्तर्गत दो बातें ज्ञातव्य हैं, यथा—(1) त्रिरत्नों में से प्रत्येक की शिक्षा तथा (2) साधारण शिक्षा।

(1) त्रिरत्नों में से प्रत्येक की शिक्षा—इसके भी दो भेद हैं, यथा—(क) प्रतिषेध शिक्षा और (ख) साधन शिक्षा।

(क) प्रतिषेध शिक्षा—इसमें अन्य देवताओं के प्रति शरणगमन न करना, सत्त्वों के विहिंसा विचारों का प्रहाण तथा तैर्थिकों से निकट सम्बन्ध न रखना आदि तीन बातें प्रमुख रूप से कही गयी हैं।

(ख) साधन शिक्षा—बुद्ध की चित्रलिखित मूर्ति का भी अनादर न करना, एक श्लोक में लिखित धर्मस्वरूप का भी अनादर न करना, संघ में प्रव्रजित के वस्त्र के चिह्न मात्र को धारण करने वाले का भी अनादर न करना और अपमान न करना—ये तीन बातें प्रमुख हैं।

(2) साधारण शिक्षा—इसके छह भेद हैं, यथा—(1) त्रिरत्नों का अन्तर (भेद) और उनके गुणों का अनुसरण करते हुए बार-बार शरणगमन करना, (2) भगवान् की महाकृपा का अनुस्मरण करते हुए उसकी पूजा के लिए प्रयत्न करते हुए भोजन और जल

के अग्रभाग को भी समर्पित करना, (3) महाकरुणा के स्मरण से अन्य प्राणियों को भी उसी प्रकार (के मार्ग में) स्थापित करना, (4) जो भी क्रिया करनी हो और जिस प्रयोजन से करनी हो, उस समय त्रिरत्न की पूजा एवं प्रार्थना करते रहना तथा अन्य लौकिक उपाय का त्याग करना, (5) (शरणगमन की) अनुशंसा को जानकर दिन में तीन बार और रात्रि में तीन बार शरणगमन करना तथा (6) त्रिरत्न का प्राण के लिए (प्राण त्याग की स्थिति में) भी या हास्य में भी त्याग न करते हुए संरक्षण करना।

उक्त छह प्रकारों में पाँचवीं शिक्षा में जो अनुशंसा जानने की बात कही गई है, उस विषय में शरणगमन की आठ अनुशंसाएँ कही गई हैं, यथा—(1) बौद्धों के समुदाय में सम्मिलित हो जाना, (2) सभी संवरों का आश्रय बन जाना, (3) पूर्वसंचित कर्मावरणों का दुर्बल हो जाना या (सर्वथा) क्षीण हो जाना, (4) अपार पुण्यों का संगृहीत होना, (5) दुर्गति (नरक, प्रेत, तिर्यक योनि) में पतन न होना, (6) मनुष्य अथवा अमनुष्यों की तरफ से होने वाले विघ्नों से बाधित (प्रतिहत) न होना, (7) सभी मनोरथों का पूर्ण होना और (8) शीघ्र बुद्धत्व प्राप्त होना—ये आठ अनुशंसाएँ कही गई हैं।

अतः उन महान् उपकारी एवं हितकारी मर्मस्थलों को जानकर उन प्रामाणिक शरणस्थलों की शरण में गमन करना (व्यक्ति के लिए) परम उपादेय है। इन सारे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन आचार्य चोंखापा के 'बृहद् बोधिपथक्रम' और 'मध्यम बोधिपथक्रम' में किया गया है। इन इन ग्रन्थ-रत्नों का बार-बार अवश्य अवलोकन करना चाहिए।

आचार्य मातृचेट द्वारा विरचित इस महत्त्वपूर्ण स्तोत्र पर आचार्य 'जिनपुत्र' द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण वृत्ति भी तनग्युर संग्रह में उपलब्ध है। सम्भवतः इस समय यह स्तोत्र मूल एवं वृत्ति दोनों ही अपनी मूल भाषा-संस्कृत में उपलब्ध होते प्रतीत नहीं होते हैं। यहाँ इस स्तोत्र के मूल भोट पाठ को सम्पादित कर उसका संस्कृत में पुनरुद्धार कर उसे हिन्दी अनुवाद एवं संक्षिप्त परिचय के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस महत्त्वपूर्ण स्तोत्र ग्रन्थ का संस्कृत में पुनरुद्धार, हिन्दी-अनुवाद एवं सम्पादन करने में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रो० रामशंकर त्रिपाठी (शोध-आचार्य) ने अमूल्य सहयोग दिया है। अतः मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस परम पुनीत कार्य से प्राप्त पुण्यों से "सभी सत्त्व बुद्धत्व प्राप्ति की ओर उन्मुख हों" ऐसी परिणामना करता हूँ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धीः' के 37वें अंक में 85 महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे अन्य 79 हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī Script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some Friends, Compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
अक्षोभ्यमण्डलपूजाविधि Akṣobhyamaṇḍalapūjāvidhi		RAK	Reel No.E.1480/10
अक्षोभ्यसमाधि Akṣobhyasamādhi		"	" " E.1723/15
अन्नप्राशनविधि Annaprāśanavidhi		"	" " E.1731/19
अपराजितामहाप्रत्यङ्गिरा Aparājītāmahāpratyaṅgirā		"	" " E.1446/30
		"	" " E.1504/5
अपराजितामहाप्रत्यङ्गिरास्तोत्र Aparājītāmahāpratyaṅgirāstotra		"	" " E.1337/4
अभिधर्मकोशस्फुटार्थसहित Abhidharmakośasphuṭārthasahita		"	" " E.910/12
अष्टमङ्गलगाथास्तोत्र Aṣṭamaṅgalagāthāstotra		"	" " E.1731/7
अष्टमीव्रतमाहात्म्य Aṣṭamīvratamāhātmya		"	" " E.1741/2
		"	" " E.1743/7

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	18	Comp.	
"	"	26	"	
"	"	23	"	
"	"	42	"	
"	"	24	"	
"	"	19	"	
"	"	316	"	
"	"	6	Incomp.	
"	"	30	"	
"	"	35	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
चर्यागीतविधिसंग्रह Caryāgītavidhisamgraha		RAK	Reel No.E.1473/4
चूडाकर्मपूजाविधि Cūḍākarmapūjāvidhi		"	" " E.1488/2
चूडाकर्मविधि Cūḍākarmavidhi		"	" " E.1257/11
		"	" " E.1492/20
छिन्नमस्तासाधन Chinnamastāsādhana	विरूपा Virūpā	"	" " E.1731/10
त्रिरत्नशरणस्तोत्र Triratnaśaraṇastotra		"	" " E.1700/11
धर्मतत्त्व Dharmatattva		"	" " E.652/7
धर्मधातुत्रिपञ्चाशत्पूजा Dharmadhātutripañcāśatapūjā		"	" " E.700/2
धर्मधातुस्वरूप-उत्पत्तिधर्ममाहात्म्य Dharmadhātusvarūpa-utpatti- dharmamāhātmya		"	" " E.652/7

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	85	Comp.	
"	N	9	"	
"	"	7	"	
"	"	11	"	
"	"	61	"	
"	"	3	"	
"	"	129	"	
"	"	76	"	
"	"	107	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
नवग्रहस्तोत्र Navagrahastotra		RAK	Reel No. E.1699/32
नवग्रहहोमविधि Navagrahahomavidhi		"	" " E.1489/17
नित्यकर्मविधि Nityakarmavidhi		"	" " E.1492/8
नित्यपूजाविधि Nityapūjāvidhi		"	" " E.1699/26
नित्यवञ्चनविधि Nityavañcanavidhi		"	" " E.895/29
पञ्चरक्षाध्यान Pañcarakṣādhyāna		"	" " E.1449/28
पञ्चरक्षामन्त्रहृदय Pañcarakṣāmantrahṛdaya		"	" " E.1496/2
पञ्चरक्षामुखाख्यान Pañcarakṣāmukhākhyāna		"	" " E.1488/4

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	13	Comp.	
"	"	13	Incomp.	
"	"	23	"	
"	"	6	Comp.	
"	"	5	"	
"	"	12	"	
"	"	52	Incomp.	
"	"	22	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
पञ्चरक्षाविधान Pañcarakṣāvidhāna		RAK	Reel No.E.1838/6
पञ्चविंशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता Pañcaviṁśatisāhasrikāprajñāpāramitā		"	" " E.888/1
पाराजिकाविनयसूत्र, मञ्जुश्रीपाराजिका Pārājikāvinayasūtra, Mañjuśrī- pārājikā		"	" " E.1496/13
पिण्डक्रियाविधि Piṇḍakriyāvidhi		"	" " E.1488/14
		"	" " E.1545/8
		"	" " E.1726/7
		"	" " E.1726/14
बल्यर्चनपूजाविधिसटीक Balyarcanapūjāvidhisatīka		MCBMBLJ	CH.513
बल्यर्चनविधि Balyarcanavidhi		"	CH.516
महाप्रत्यङ्गिराधर्मोपदेशसूत्र Mahāpratyaṅgirādharmopadeśasūtra		RAK	Reel No.E.1840/28

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	35	Comp.	
"	"	242	"	
"	"	26	Incomp.	
"	"	12	Comp.	
"	"	22	"	
"	"	16	Incomp.	
"	"	18	Comp.	
"	"	44		
"	"	108		
"	"	109	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
महामेघमहायानसूत्र Mahāmeghamahāyānasūtra		RAK	Reel No.E.1484/5
महासत्त्वजातक Mahāsattvajātaka		"	" " E.1473/3
रागमालाबौद्धसंगीत Rāgamālābauddhasaṅgīta		"	" " E.1711/7
वज्रतत्त्वपूजाविधि Vajratattvapūjāvidhi		"	" " E.1743/6
वज्रनैरात्मादेवीहृदयमन्त्रस्तोत्र Vajranairātmādevīhṛdayamantrastotra		"	" " E.1491/11
वज्रवाराहीमुखाख्यानकथा Vajravārāhīmukhākhyānakathā		"	" " E.1504/3
वज्रवाराहीमुखाख्यानविधि Vajravārāhīmukhākhyānavidhi		"	" " E.1723/14
वज्रवाराहीमुखाख्यानसमाधि Vajravārāhīmukhākhyānasamādhi		"	" " E.1485/2

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	43	Comp.	
"	Dev.	18	Incomp.	
"	N	20	Comp.	
"	"	35	"	
"	Dev.	4	"	
"	N	6	"	
"	"	7	"	
"	"	12	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
वागीश्वरस्तोत्र Vāgiśvarastotra		RAK	Reel No. E.1700/16
वागीश्वरावदानस्तोत्र Vāgiśvarāvadānastotra		"	" " E.1444/8
विद्याधरपिटकप्रतिबद्धमञ्जुघोषसाधन Vidyādharapiṭakapratibaddha- mañjughoṣasādhana		CAMBRIDGE "	1648 1648
दृष्टिचिन्तामणिनामस्तोत्र Dr̥ṣṭicintāmaṇināmastotra	जयप्रतापमल्ल Jayapratāpamalla	"	1648
शाक्यमुनिबुद्धस्तोत्र Śākyamunibuddhastotra		RAK	Reel No. E.1699/31
शीतवतीमहाविद्याराज्ञी Śītavatīmahāvidyārājñī		"	" " E.1473/2
षोडशपिण्डदान Ṣoḍaśapiṇḍadāna		"	" " E.1714/9
सप्ताक्षरसाधन Saptākṣarasādhana	दुर्जयचन्द्र Durjayacandra	CAMBRIDGE	1648

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	5	Comp.	
"	Dev.	14	"	
Paper	N	(51b-52a)		
"	"	(73a-73b)		
"	"	1-6	"	
NP	"	46	Incomp.	
"	"	47	"	
"	"	31	Comp.	
Paper	"	(173b-174a)		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सम्यग्भोजनक्रम Samyagbhojanakrama		PCSVV	—
संक्षिप्तवज्रधर्मसाधनोपायिका Saṅkṣiptavajradharmasāadhanopāyikā		CAMBRIDGE	1648
संक्षिप्ताभिषेकवज्रमहाकल्पतन्त्र Saṅkṣiptābhiśekavajramahā- kalpatantra		RAK	Reel No.A.924/19
संध्याभोजदानक्रमविधि Saṁdhyābhojadānakramavidhi		MCBMBLJ	KA.13-3
संपूर्णचक्रसंवरपूजाविधि Saṁpūrṇacakraśaṁvarapūjāvidhi		"	CH.555
संपूर्णचक्रसंवरसमाधि Saṁpūrṇacakraśaṁvarasamādhi		RAK	Reel No.E.1731/13
संपूर्णसर्वतन्त्रनिदानमहाकल्पराज Saṁpūrṇasarvatantranidāna- mahākālparāja		MCBMBLJ	CA.43-1
संवरपूजाविधि Saṁvarapūjāvidhi		"	CH.216

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	22	Comp.	
Paper	"	2(10a-12a)		
"	"	Folding Book		
"	"	22		
"	"	84		
"	"	25	"	
"	"	88		
"	"	35		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामपराजिता- महाप्रत्यङ्गिराविद्याराज्ञी Sarvatathāgatoṣṇīṣasitātapatrānāmā- parājītāmahāpratyaṅgirāvidyārājñī		RAK	Reel No.E.911/14, 1
सर्वज्ञजिनधातुरत्नकरण्डकनाम- अवलोकितेश्वरस्तोत्र Sarvajñajinadhāturatnakaraṇḍaka- nāma-Avalokiteśvarastotra		SMTUL	430
सर्वज्ञमित्रावदान Sarvajñamitrāvadāna		RAK	4/1513, Reel No.A.125/3
		"	3/1035, " " A.125/15
सर्वज्ञावदान Sarvajñāvadāna		"	3/597, " " A.125/2
		"	5/50, " " B.101/5
सरस्वतीप्रक्रिया Sarasvatiprakriyā		IASWR	MBB-II-57
सहगामिनीधर्म Sahagāminīdharmā		"	MBB-II-148
सामान्यलक्षणविवेक Sāmānyalakṣaṇaviveka		"	MBB-II-56

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	202	Comp.	
Paper	"	4		N. Samvat. 933
NP	"	54	"	
"	"	16	"	
"	Dev.	90	"	
"	N	63	"	
"	"	179		
"	"	24		
"	"	9		

Title	Author	Institution	Ms. No.
सामान्यविवेचन Sāmānyavivecana		IASWR	MBB-II-65
सामान्यसिद्धिदूषण Sāmānyasiddhidūṣaṇa		MCBMBLJ	CH.369
सिंहनामतपूजाविधि Sirihanaṁmatapūjāvidhi		IASWR	MBB-I-46
सिन्दूरमुकुटपूजाविधि Sindūramukutaṭapūjāvidhi		"	MBB-I-46
सुखावतीनामाष्टक Sukhāvatīnāmāṣṭaka		RAK	2/226
सुखावतीभुवनक्षेत्रप्रशंसा Sukhāvatībhuvanakṣetrapraśaṁsā		SMTUL	467
सुमगधावदान Sumagadhāvadāna		RAK	5/243, Reel No.A.125/11
सुवर्णवर्णावदान Suvarṇavarṇāvadāna		"	3/593, " " B.101/8
		"	3/668, " " B.100/21

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	23		
"	"	7(1b-7b)		
"	"	44		A.D.1818
"	"	44		
"	"	2/155-156)	Comp.	
Paper	"	17		
NP	"	30	"	
"	Dev.	55	"	
"	"	65	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
स्नानकलशपूजाविधि Snānakalaśapūjāvidhi		MCBMBLJ	CA.48-5
स्वयम्भू-उत्पत्तिकथा Svayambhū-Utpattikathā		RAK	Reel No.E.1740/2
स्वयम्भू-उत्पत्ति-उपदेश Svayambhū-Utpatti-Upadeśa		"	" " A.125/7
स्वयम्भूचैत्य Svayambhūcaitya		"	" " A.125/8
स्वयम्भूचैत्यवर्णन Svayambhūcaityavarṇana		"	" " A.124/15
स्वयम्भूचैत्यभट्टारकोद्देश Svayambhūcaityabhaṭṭārakoddeśa		"	" " A.125/16
		"	" " B.104/7
		"	" " A.127/6
		"	" " A.923/2
		"	" " B.101/16
स्वयम्भूचैत्यस्थापनवर्णन Svayambhūcaityasthāpanavarṇana		"	" " B.100/22
स्वयम्भूधर्ममाहात्म्य Svayambhūdharma-māhātmya		"	" " A.125/4
		"	" " A.923/4
हस्तमुद्रालक्षण Hastamudrālakṣaṇa		"	6/1177, " " A.885/13

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	24		
"	"	97	Comp.	
"	"	100	Incomp.	
"	"	22	"	
"	Dev.	93	Comp.	
"	N	20	Incomp.	
"	"	15	"	
"	"	25	Comp.	
"	"	29	Incomp.	
"	Dev.	15	Comp.	
"	N	11	Incomp.	
"	"	115	Comp.	
"	"	95	Incomp.	
"	"	17	"	

बौद्ध देवकुलों का लाक्षणिक स्वरूप

—ठाकुरसेन नेगी—

[प्रस्तुत लेख में बौद्ध देवकुलों का स्वरूप विषय पर विवेचन किया जा रहा है। संक्षेप में बौद्ध देवकुल के विभिन्न देवी-देवताओं का प्रारम्भिक उल्लेख मञ्जुश्रीमूलकल्प एवं गुह्यसमाज में हुआ है। गुह्यसमाज में पाँच ध्यानी बुद्ध एवं उनकी शक्तियों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में पाँच ध्यानी बुद्ध एवं उनकी शक्तियों की कल्पना बौद्ध देवकुल की धुरी है। इन्हीं ध्यानी बुद्धों से बौद्ध देवकुल के अन्य सभी देवी-देवता विकसित हुए हैं। इस प्रकार बौद्ध देवकुल के विभिन्न देवी-देवताओं के लाक्षणिक स्वरूपों का निरूपण साधनमाला, निष्पन्नयोगावली, अद्वयवज्रसंग्रह आदि ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।]

बौद्ध देवकुल में आदिबुद्ध (वज्रधर) और उनकी शक्ति आदिप्रज्ञा की कल्पना है। बौद्ध देवकुल के अन्य सभी देवी-देवताओं को इन्हीं से उत्पन्न माना गया है। आदिबुद्ध एवं आदिप्रज्ञा सृष्टि के कर्ता (अर्थात् पिता-माता) हैं। 10वीं शती ई० में नालन्दा के महाविहार में आदिबुद्ध की पूर्ण कल्पना की गयी। नेपाल और तिब्बत में आदिबुद्ध वज्रधर के रूप में विशेष लोकप्रिय थे, जहाँ से इनकी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं।

11वीं शती ई० के बौद्धग्रन्थ स्वयम्भूपुराण में आदिबुद्ध की कल्पना अग्नि की ज्वाला के रूप में की गयी है और बताया गया है कि अग्नि ज्वाला के रूप में ये सर्वप्रथम नेपाल में उत्पन्न हुए। ग्रन्थ में इन्हें शाश्वत और स्वयम्भू बताया गया है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे। आदिबुद्ध सामान्यतः वज्रपर्यङ्क ध्यानमुद्रा में आसीन, विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित होते हैं। इनके दाहिने हाथ में वज्र और बायें हाथ में घण्टा है, जो क्रमशः शून्य और ज्ञान के सूचक हैं। ये या तो अकेले या फिर अपनी शक्ति (आदिप्रज्ञा) के साथ आलिङ्गन मुद्रा में होते हैं।

पाँच ध्यानी बुद्ध एवं बोधिसत्त्व

आदिबुद्ध एवं आदिप्रज्ञा से पाँच ध्यानी बुद्धों का विकास हुआ है। ध्यानी बुद्धों का प्रारम्भिक उल्लेख गुह्यसमाज¹ में हुआ है। गुह्यसमाज में पाँच ध्यानी बुद्धों की विशद रूप से चर्चा है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध का एक विशेष मन्त्र, वर्ण, शक्ति तथा बोधिसत्त्व है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक ध्यानी बुद्ध से निःसृत होने वाले देव-देवियों की भी चर्चा है।

1. गुह्यसमाजतन्त्र, प्रथम अध्याय, पृ० 3-4

अक्षोभ्य—ध्यानी बुद्धों के मण्डल (तथागतमण्डल) को परिभाषित करने के लिए भगवान् 'बोधिचित्तवज्र तथागत' ज्ञानप्रदीपवज्र नाम की विशेष समाधि में बैठे और उनका सम्पूर्ण स्वरूप 'वज्रधृक्' की पवित्र ध्वनि के साथ प्रतिध्वनि करने लगा। यह द्वेषकुल का मन्त्र था तथा ज्यों ही शब्द निःसृत हुए तब ध्वनि ने अक्षोभ्य का रूप धारण कर लिया। यह रूप भूस्पर्शमुद्रा में था।

वैरोचन—इसके पश्चात् भगवान् समयसम्भववज्र नाम समाधि में बैठे और उनका सम्पूर्ण शरीर शीघ्र ही मोहकुल के मन्त्र 'जिनजिक्' की पवित्र ध्वनि द्वारा गतिमान होने लगे। ध्वनि से घनीभूत होकर वैरोचन का रूप धारण कर लिया। यह रूप धर्मचक्र-मुद्रा में था।

रत्नसम्भव—इसके बाद भगवान् रत्नसम्भववज्रश्रिय नाम समाधि में बैठे और उनका सम्पूर्ण शरीर 'चिन्तामणि' कुल के मन्त्र 'रत्नधृक्' से प्रतिध्वनित होने लगा और शीघ्र ही घनीभूत होकर उन्होंने रत्नसम्भव का रूप धारण कर लिया। यह रूप वरदमुद्रा में था।

अमिताभ—तत्पश्चात् भगवान् महारागसम्भववज्र नाम समाधि में बैठे और 'वज्रराग' कुल के मन्त्र 'आरोलिक्' की पवित्र ध्वनि से प्रतिध्वनित होने लगे और शीघ्र ही ध्वनितरंगों से घनीभूत होकर अमिताभ का रूप धारण कर लिया। यह रूप ध्यान (समाधि) मुद्रा में था।

अमोघसिद्धि—तत्पश्चात् भगवान् अमोघसमयसम्भववज्र नाम समाधि में बैठे और 'समयाकर्षण' कुल के मन्त्र 'प्रज्ञाधृक्' की पवित्र ध्वनि से घनीभूत होकर अमोघसिद्धि का रूप धारण कर लिया। यह रूप अभयमुद्रा में था।

इसके पश्चात् भगवान् पाँच विभिन्न मन्त्रों के साथ पाँच (प्रकार की) समाधियों में क्रम से बैठे और ध्वनि तरंगों से घनीभूत होकर पाँच ध्यानी बुद्धों की पाँच प्रमुख शक्तियों का रूप धारण किया¹।

इस प्रकार भगवान् 'द्वेषरति' की ध्वनि के साथ (प्रथम) 'सर्वतथागतवज्रधरा-नुरागणसमय' नाम समाधि में बैठे और अक्षोभ्य की शक्ति का रूप धारण कर लिया।

इसके पश्चात् भगवान् 'सर्वतथागतानुरागणवज्र' नाम समाधि में बैठे और 'मोहरति' की ध्वनि से प्रतिध्वनित हुए और वैरोचन की शक्ति का अभ्युदय हुआ।

1. गृह्यसमाजतन्त्र, प्रथम अध्याय, पृ० 5-6

इसके पश्चात् भगवान् 'सर्वतथागतरत्नधरानुरागणवज्र' नाम समाधि में 'ईर्ष्यारति' की ध्वनि से प्रतिध्वनित हुए और रत्नसम्भव शक्ति का अभ्युदय हुआ।

इसके पश्चात् भगवान् 'सर्वतथागतरागधरानुरागणवज्र' नाम समाधि में 'रागरति' की ध्वनि से प्रतिध्वनित हुए और अमिताभ की शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

तत्पश्चात् भगवान् 'सर्वतथागतकायवाक्चित्तविसम्वादनवज्र' नाम समाधि में 'वज्ररति' की ध्वनि से प्रतिध्वनित हुए और अमोघसिद्धि की शक्ति की उत्पत्ति हुई।

ध्यानी बुद्ध ऐसे व्यक्तित्व वाले होते हैं, जिन्हें बोधिसत्त्व की स्थिति से नहीं गुजरना पड़ता है। ये किसी भी प्रकार बुद्ध से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक शक्ति की भी कल्पना की गयी। कभी-कभी वज्रसत्त्व नाम से छठे ध्यानी बुद्ध का भी उल्लेख प्राप्त होती है। ध्यानी बुद्ध शाश्वत हैं और स्वर्ग में सतत ध्यानावस्थित रहते हैं। कार्य करना उनका स्वभाव नहीं है।

ध्यानी बुद्धों की पहचान

सभी ध्यानी बुद्धों की आकृतियाँ एक समान होती हैं। वे योगासन में ध्यानमग्न, दुहरे कमलासन पर बैठे होते हैं। परन्तु वर्ण में अन्तर और हाथ की विभिन्न मुद्राओं तथा अपने विशिष्ट वाहनों के द्वारा वे अलग-अलग पहचाने जाते हैं।

ये ध्यानी बुद्ध द्विभुजी तथा वज्रासन में आसीन होते हैं। ध्यानी बुद्धों का एक हाथ गोद में स्थित है, जिसमें कभी-कभी भिक्षापात्र होता है तथा दूसरे हाथ से कोई मुद्रा प्रदर्शित होती है। बौद्ध देवी-देवताओं के मुकुट पर किसी न किसी ध्यानी बुद्ध की मूर्ति उत्कीर्ण होती है, जो इस बात का संकेत देती है कि देवता किस ध्यानी बुद्ध के कुल (परिवार) से सम्बन्धित है। कभी-कभी पाँचों ध्यानी बुद्ध अंकित (उत्कीर्ण) होते हैं। ऐसे में मध्य के ध्यानी बुद्ध के आधार पर सम्बन्धित देवता का परिवार निश्चित किया जाता है।

पाँच ध्यानी बुद्ध

अमिताभ

पञ्चध्यानी बुद्धों में अमिताभ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् तथा भविष्य में जन्म लेने वाले बोधिसत्त्व मैत्रेय के आगमन के मध्य वर्तमान कल्प (भद्रकल्प) के अधिष्ठाता हैं। अद्वयवज्रसंग्रह में कहा है—

सूर्यमण्डल के पश्चिम दल पर रक्तवर्णीय अमिताभ है। पद्म(कमल) इनका चिह्न है तथा समाधि इनकी मुद्रा है। ये संज्ञा स्कन्ध के स्वभाव में पद्मकुल से सम्बद्ध है। इनकी शक्ति पाण्डरा है, जो रक्तवर्णी है। इनका वाहन मयूर है।

“...पश्चिमदले रविमण्डलोपरि...रक्तवर्णोऽमिताभः पद्मचिह्नः समाधिमुद्राधरः संज्ञास्कन्धस्वभावो रागशरीरः शुक्रात्मकः पद्मकुली...”। (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 41)

अमिताभ की पौराणिक कथा—

एक समय भगवान् रागजृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे। भगवान् के मुखमण्डल की चमक बहुत उज्ज्वल हो रही थी, जिसे देख आनन्द ने भगवान् से कहा कि भगवन्, आपके मुखमण्डल की चमक इससे पहले इस तरह की नहीं देखी। जान पड़ता है कि भगवान् सर्वज्ञता विहार से विहार कर रहे हैं तथा अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) बुद्धों का स्मरण कर रहे हैं। भगवान् ने आनन्द से कहा—साधु! साधु! आनन्द, तुम बड़े प्रतिभावान् हो, जो इस तरह की बात मुझसे पूछ रहे हो। सुनो, मैं कहता हूँ।

बहुत कल्प बीत गए, जब लोकेश्वर राज नामक तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध हुए थे। उनके प्रवचन में एक परम श्रद्धालु धर्माकर नाम का भिक्षु था। उसने भगवान् से कहा—“भगवन्, मैं सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करना चाहता हूँ। भगवान् मुझे उस धर्म का उपदेश करें, जिससे मैं शीघ्र सम्यक्सम्बोधि प्राप्त कर सकूँ और उन स्वरूपों को बताएं (तांश्चाकारान् परिकीर्तयतु) जिनसे मैं बुद्धक्षेत्रों की गुणव्यूहसम्पदा को जान सकूँ।” तब भगवान् ने भिक्षु के अभिप्राय को जान करोड़ों (एकाशीतिबुद्धकोटीनियुतशतसहस्राणाम्) बुद्धों के बुद्धक्षेत्रों की गुणव्यूहसम्पदा को पूरे करोड़ वर्ष तक कहा। उन तथागत की आयु चालीस कल्प थी।

धर्माकर भिक्षु ने सुनकर भगवान् से कहा—“भगवान् सुनें—मेरे जो संकल्प हैं, जिस तरह के अचिन्त्य गुणों वाला मेरा बुद्धक्षेत्र होगा, जब मैं सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करूँगा। यदि उस बुद्धक्षेत्र में नरक, प्रेतयोनि, असुर हों, लोगों का रंग एक सा सोने (स्वर्ण) जैसा न हो, उसमें रहने वाले देव-मनुष्यों में नाम को छोड़कर यदि कोई और भेद (नानात्व) हों, उसमें रहने वाले प्राणी यदि परम ऋद्धि को प्राप्त न हो—अपने पूर्व जन्मों का स्मरण न करें, दिव्यचक्षुवाले न हो, दिव्य श्रोत्रवाले न हो, परचित्तविद् न हो, उनमें यदि जरा भी परिग्रह का भाव हो, उसमें रहनेवाले यदि जब तक चाहें तब तक जीते रहनेवाले न हों, उसमें अकुशलता का नाम भी हो, तो मैं उस बुद्धक्षेत्र में सम्यक्सम्बोधि न प्राप्त करूँ”।

इस तरह संकल्प (प्रणिधान) कर धर्माकर भिक्षु बोधिसत्त्व हो गए और छह पारमिताओं का अभ्यास करते हुए अप्रमेय-असंख्य बुद्धों की उन्होंने सेवा की तथा सम्यक्सम्बोधि को प्राप्त किया।

आनन्द ने भगवान् से पूछा—“धर्माकर भिक्षु सम्यक्सम्बोधि पाकर परनिर्वृत हो गए या इस समय हैं।”

भगवान् ने कहा—आनन्द, वे हैं, अतीत नहीं हुए हैं। यहाँ से पश्चिम की ओर कोटिनियुतशतसहस्रतम बुद्धक्षेत्र सुखावती लोकधातु में अमिताभ तथागत अपरिमाण बोधिसत्त्वों और अनन्त अर्हतों के साथ हैं। उनकी आभा(चमक) की माप न होने से वे अमिताभ कहलाते हैं। उनकी आयु भी अमित है, इसलिए वे अमितायु भी कहलाते हैं। वह सुखावती रमणीय है। उसमें अक्षणों¹ की उपपत्ति (प्राप्ति) नहीं होती। सुखावती में सुख की जो कारण-सामग्री है, उनका वर्णन कल्प भर में भी नहीं पूरा हो सकता।

आनन्द ने भगवान् से कहा—‘भगवन्, मैं अमिताभ तथागत और उन बोधिसत्त्वों को देखना चाहता हूँ।’

आनन्द के कहने के साथ ही अमिताभ बुद्ध ने अपनी हथेली से इस तरह की रश्मि निकाली कि करोड़ों (कोटिनियुतशतसहस्रतम्) बुद्धक्षेत्र साफ दिखाई पड़ने लगे। उस समय सुखावती लोकधातु के देव, मनुष्य, श्रावक और बोधिसत्त्वों को सह-धातु में शाक्यमुनि भिक्षुसंघ सहित दिखाई पड़ने लगे।

तब भगवान् ने अजित बोधिसत्त्व को सम्बोधन कर कहा—‘अजित, तुम उस (सुखावती) बुद्धक्षेत्र की गुणव्यूहसम्पदा को देख रहे हो।’ अजित ने कहा ‘देख रहा हूँ भगवन्’।

अमिताभ और सुखावती दोनों ही इस धरती पर देखे और सुने नहीं जा सकते। पर मनुष्य के मनके भीतर अमिताभ और सुखावती की सृष्टि को देख लेना दुर्लभ नहीं है। मनुष्य मरना नहीं चाहता, वह अमितकाल तक ठहरना और अमित सुख के बीच रहना चाहता है। अमिताभ और सुखावती दोनों ही इन दोनों भावनाओं के प्रतीक हैं।

अक्षोभ्य

ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य का उल्लेख ‘अक्षोभ्यव्यूह’ एवं ‘अमितायुषसूत्र’ में एक तथागत के रूप में प्राप्त है। यह द्विभुज, एकमुख, वज्रपर्यङ्कासन पर भूस्पर्श मुद्रा में हैं। ये

1. आठ अक्षण—1. नरकयोनि, 2. प्रेतयोनि, 3. तिर्यक्योनि, 4. म्लेच्छ जाति में जन्म, 5. दीर्घायुष देवयोनि, 6. मिथ्यादृष्टि, 7. बुद्धानुत्पाद और 8. मूकता।

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।

मिथ्यादृग्बुद्धकान्तरौ मूकताष्टाविहाक्षणाः ॥

(बोधिचर्यावतारपञ्जिका 1.4, पृ० 5)

विज्ञान स्कन्ध स्वभाव में हैं। ये वज्रकुल से सम्बद्ध हैं। इनका चिह्न वज्र तथा वाहन हस्ति(गज) है। ये नील वर्ण के हैं। निष्पन्नयोगावली में अक्षोभ्य को क्रोधयुक्त, नीलवर्णी, द्विमुखी, दक्षिण मुख श्वेत तथा वाम मुख रक्त, षड्भुजी, वज्र, चक्र, पद्म, घण्टा, चिन्तामणि तथा खड्गधारी कहा गया है। इनकी शक्ति लोचना है।

“...सूर्यमण्डलस्थनीलहूँकारनिष्पन्नो द्विभुज एकमुखो भूस्पर्शमुद्राधरो वज्रपर्यङ्की... वज्रचिह्नः सुविशुद्धधर्मधातुविज्ञानस्कन्धस्वभावः ...वज्रकुली...”।

(अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 40-41)

“...अक्षोभ्यः कृष्णो रौद्रः सितरक्तसव्येतरमुखः सव्यकरैः कुलचक्रपद्मानि वामैर्घण्टाचिन्तामणिखड्गान् बिभ्राणः स्वाभस्पर्शवज्रलिङ्गितः...।” (निष्पन्नयोगावली, पृ० 5)

वैरोचन

यह श्वेतवर्णी है, श्वेतचक्र इनका चिह्न है। बोध्यङ्गी (धर्मचक्र) इनकी मुद्रा है। ये रूप स्कन्ध स्वभाव में तथागतकुल से सम्बद्ध हैं। इनका वाहन नाग है।

“...शुक्लवर्णवैरोचनः शुक्लचक्र(वज्र)चिह्नः बोध्यङ्गीधरः रूपस्कन्धस्वभावः मोहस्वरूपो विटविशुद्धः तथागतकुली आदर्शत्वेन प्रतिष्ठितः...।” (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 41)

निष्पन्नयोगावली में वैरोचन अष्टभुजी हैं, जिनके चार मुख हैं। इनके मुख श्वेत, पीत, रक्त एवं हरित वर्ण के हैं। इनकी शक्ति वज्रधात्वीश्वरी है।

“...भगवान् वैरोचनो वज्रपर्यङ्केन निषण्णः शुभः सूर्यप्रभः स्फुरत्पञ्चबुद्धरत्नमुकुट-मण्डितजटाविटपी विचित्ररत्नाभरणाम्बरः शान्तः सितपीतरक्तहरितचतुर्वक्त्रोऽष्टभुजः सव्य-वामाभ्यां धृतवज्रबोध्यङ्गीमुद्रोऽपराभ्यां धृतध्यानमुद्रो दक्षिणाभ्यामक्षमालाशरधरो वामाभ्यां चक्रचापभृत्...।” (निष्पन्नयोगावली, पृ० 44)

अमोघसिद्धि

यह हरितवर्णी, विश्ववज्र चिह्न युक्त तथा अभयमुद्रा में हैं। ये संस्कार स्कन्ध स्वभाव में कर्मकुल से सम्बद्ध हैं। इनका वाहन गरुड़ है। इनकी शक्ति आर्यतारा है। इनके सिर पर (कभी-कभी) सप्तनागफणों का छत्र प्रदर्शित होता है।

“...उत्तरदले सूर्यमण्डलोपरि...श्यामवर्णोऽमोघसिद्धिः विश्ववज्रचिह्नाभयमुद्राधरः संस्कारस्कन्धस्वभावो वर्षाऋतुरूपः ...।” (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 41)

रत्नसम्भव

यह पीतवर्णी, रत्नचिह्न युक्त तथा वरदमुद्रा में हैं। ये वेदना स्कन्ध स्वभाव में रत्नकुल से सम्बद्ध हैं। इनका वाहन सिंह है।

“...दक्षिणदले सूर्यमण्डलोपरि...पीतवर्णी रत्नसम्भवो रत्नचिह्नवरदमुद्राधरो वेदनास्वभावपिशुनशरीरः रक्तात्मको रत्नकुली...” (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 41)

संक्षेप में वज्रयान में एक ऐसे पथ की परिकल्पना है, जो बुद्धत्व की ओर उन्मुख है, जिसे अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि कहा गया है। वज्रयान में पाँच ध्यानी बुद्धों तथा उनसे उद्भूत देव-देवी कुल (परिवार) की कल्पना की गई है। इन देवताओं का निवास स्थान अकनिष्ठ लोक (स्वर्ग) था, जो कि स्वर्गों में सर्वोच्च है। ये देवता कभी तथागतों के समतुल्य वर्णित होते हैं। ये पाँच ध्यानी बुद्ध उन पाँच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के मूर्तरूप हैं। पाँच स्कन्धों के क्रम में इन पाँच ध्यानी बुद्धों के नाम हैं—रूप स्कन्ध के रूप में वैरोचन, वेदना स्कन्ध के रूप में रत्नसम्भव, संज्ञा स्कन्ध के रूप में अमिताभ, संस्कार स्कन्ध के रूप में अमोघसिद्धि और विज्ञान स्कन्ध के रूप में अक्षोभ्य। इन पाँच स्कन्धों में से जो भी स्कन्ध प्रधान होता है, देवता उसी अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध का उद्भव माना जाता है और उसके मुकुट पर वही ध्यानी बुद्ध प्रतिष्ठित (अंकित) होता है। शेष ध्यानी बुद्ध उस अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध के शीर्ष भाग के प्रभामण्डल के चारों ओर प्रदर्शित होते हैं। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध का वर्ण निश्चित है तथा उसके कुल में अन्तर्भूत सभी देवी-देवता भी उसी वर्ण को धारण करते हैं, यह एक सामान्य नियम है। किन्तु इसके अपवाद भी मिलते हैं। कभी-कभी भिन्न क्रिया विधानों में उनके वर्ण, आसन, रूप आदि में भी विभिन्नता पाई जाती है। यदि कोई देवता विनाश व रक्षा दोनों प्रकार के कार्य कर सकता है तो यह आवश्यक नहीं कि वह एक ही रंग वाला हो। क्योंकि विभिन्न प्रकार के कार्य, रंग, रूप और स्थिति में भिन्नता रखते हैं।

उदाहरणार्थ—“साधनमाला (साधन सं० 279, 193, 270) ...कर्मानुरूपतो वर्णः, पृ० 556, कर्मानुरूपतः शुक्लादिवर्णयुक्तां, पृ० 395, रक्तकृष्णपीतसितवर्णं कर्मानुरूपतो ध्येयम्, पृ० 532”।

बौद्ध मान्यता के अनुसार ध्यानी बुद्ध अपने अस्तित्व में बहुत असाधारण होते हैं और उनके कार्य मुख्यतः बोधिसत्त्वों द्वारा ही किये जाते हैं। बोधिसत्त्व गतिशील और

निरन्तर रचना कार्यों में लगे रहते हैं। बोधिसत्त्व ऐसे व्यक्तित्व हैं, जो सम्बोधि प्राप्ति के मार्ग पर और उसके लिए चेष्टारत हैं। इस परिभाषा के अन्तर्गत देव कुल के सभी देवताओं को बोधिसत्त्व की श्रेणी में रखा जा सकता है, क्योंकि सभी देवता सम्बोधि प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। बोधिसत्त्वों के रूप में मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि का उल्लेख हुआ है। परन्तु ध्यानी बुद्धों से विकसित बोधिसत्त्व ही बोधिसत्त्वों में मुख्य हैं। ध्यानी बुद्धों से सम्बन्धित बोधिसत्त्वों के बारे में यह धारणा है कि ये अलग-अलग कल्पों (युगों) में प्रकट होते हैं और संसार में सामान्य स्थिति स्थापित करने के बाद अपने मौलिक तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं।

बोधिसत्त्व

बोधिसत्त्व का शाब्दिक अर्थ है—बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः) इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण साधन होता है। बुद्ध एवं बोधिसत्त्व में विभेद यह है कि बुद्ध स्वयं अपने बल पर एकाकी निर्वाण प्राप्त करता है, किन्तु बोधिसत्त्व निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी एकाकी नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवों के साथ निर्वाण प्राप्त करना चाहता है। बुद्ध एकांगी एवं अन्तर्मुखी है तो बोधिसत्त्व व्यापक एवं बहिर्मुखी है, जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण जीवों का कल्याण है। बोधिसत्त्व के प्रमुख गुण होते हैं—महामैत्री तथा महाकरुणा। वह विश्व के दुःखों से चिन्तित है। जब तक विश्व का एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है, तब तक वह अपनी मुक्ति (निर्वाण) नहीं चाहता, जब तक सम्पूर्ण विश्व के प्राणी दुःखों से रहित न हो जायं। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से द्रवीभूत हो उठता है।

बोधिचर्यावतार में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है—

“एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽसादितं शुभम् ।

तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥ (बोधिचर्यावतार 3.6)

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम् ॥” (बोधिचर्यावतार 8.108)

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसम्भार का मैंने अर्जन किया है, उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःख शान्त हों। मुक्त

जीवों के हृदय में जो आनन्द सागर हिलोरे मारने लगता है, वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है। अतः नीरस निर्वाण अर्थात् इस रसहीन मोक्ष को लेकर क्या करना है? इस प्रकार बोधिसत्त्व का लक्ष्य केवल अपने को ही निर्वाण में प्रतिष्ठित करना नहीं होता, अपितु सब प्राणियों को वह परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है।

बोधिसत्त्व और बुद्ध का स्वरूप

बोधिसत्त्व की पाँच बातों से पहचान होती है—बोधिसत्त्व के हृदय में प्राणियों के प्रति अनुकम्पा होती है। इसलिए प्रयोग में वह प्रिय वचन बोलता है। इससे प्राणियों को बुद्धशासन के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न हो जाता है। उसमें धीरता होती है, जिससे कठिन से कठिन अवसर पर वह खिन्न नहीं होता। उसमें मुक्तहस्तता होती है अर्थात् उसका हाथ खुला होता है, जिससे लोगों को धनदान देने में वह नहीं हिचकिचाता। उसमें सन्धिनिर्मोक्ष होता है अर्थात् उसके कोई गाँठ नहीं रह जाती अर्थात् उसके सब संशय दूर रहते हैं, इसलिए वह धर्मदेशना ठीक-ठीक करता है¹। इन पाँच बातों द्वारा बोधिसत्त्व लोकसंग्रह करता है और प्राणियों के उपकार में लगा रहता है।

बोधिसत्त्व इस तरह धर्माचरण करते हुए बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्धत्व के विषय में उसका आदर्श बहुत ऊँचा है।

बुद्ध कौन है? 1. जिसने परमार्थ(तथता) का साक्षात्कार कर उसे पा लिया है, 2. सब भूमियों को जो पार कर चुका है, 3. सब प्राणियों में जो श्रेष्ठ है, 4. जिसका काम सब प्राणियों को मुक्त करना है, 5. जो असाधारण और अक्षय गुणों से युक्त है और उनके कारण (गुणरूपी सांभोगिक काय के कारण) जिसके लोक में दर्शन होते हैं तथा 6. दर्शन होते हुए भी अपने धर्मकाय के कारण जो अदृश्य ही रहता है, वह बुद्ध है।

महायानसूत्रालङ्कार में कहा है—

“निष्पन्नपरमार्थोऽसि सर्वभूमिविनिःसृतः ।

सर्वसत्त्वाग्रतां प्राप्तः सर्वसत्त्वविमोचकः ॥

1. अनुकम्पा प्रियाख्यानं धीरता मुक्तहस्तता ।
गम्भीरसन्धिनिर्मोक्षो लिङ्गान्येतानि धीमताम् ॥
परिग्रहेऽधिमुक्त्यासावखेदे द्वयसंग्रहे ।
आशयाच्च प्रयोगाच्च विज्ञेयं लिङ्गपञ्चकम् ॥ (महायानसूत्रालङ्कार 20-21, 1-2, पृ० 168)

अक्षयैरसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे ।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषैः ॥”

(21-21, 60-61, पृ० 180)

इस प्रकार के उच्चस्थान को प्राप्त करने में बोधिसत्त्व सब प्रकार के साधनों से सुसज्जित हो पारमिताओं का अभ्यास करता है।

बोधिसत्त्व मुख्यतः पाँच हैं, किन्तु छोटे ध्यानी बुद्ध के आने से बोधिसत्त्व की एक संख्या और बढ़ा दी गई। ये बोधिसत्त्व अपने विशिष्ट ध्यानी बुद्धों तथा उनकी शक्तियों से उद्भूत हुए हैं—

पाँच ध्यानी बुद्ध	शक्ति	बोधिसत्त्व
अमिताभ	पाण्डरा	पद्मपाणि
अक्षोभ्य	लोचना	वज्रपाणि
वैरोचन	वज्रधात्वीश्वरी	समन्तभद्र
अमोघसिद्धि	आर्यतारा	विश्वपाणि
रत्नसम्भव	मामकी	रत्नपाणि
वज्रसत्त्व	वज्रसत्त्वात्मिका	घण्टापाणि

ये बोधिसत्त्व भिन्न-भिन्न आसनों में बैठे या खड़े प्रदर्शित होते हैं। उनके सिर पर मुकुट और मुकुट के मध्य उनके ध्यानी बुद्ध की आकृति अंकित रहती है। जिससे बोधिसत्त्व भली-भाँति पहचाने जाते हैं। साधारणतः उनके हाथों में सनाल कमल रहता है। दोहरे कमलासन, शरीर पर भव्य वस्त्राभूषण तथा सिर पर रत्नजटित मुकुट होता है। उनके मुखमण्डल का सौम्य भाव तथा ध्यानमग्न रूप द्वारा बुद्ध के स्वरूप की सदृशता परिलक्षित होती है। बोधिसत्त्वों के अनेक रूपों में मैत्रेय, मञ्जुश्री और अवलोकितेश्वर प्रमुख माने गये हैं।

मैत्रेय

बौद्ध साहित्य में मैत्रेय का भावी (भविष्य में आने वाले) बुद्ध के रूप में वर्णन किया गया है। इस समय मैत्रेय तुषित लोक(स्वर्ग) में है और सम्बोधि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इसी कारण इन्हें बोधिसत्त्व कहा गया है।

बौद्ध मान्यतानुसार महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के चार हजार वर्ष बाद मैत्रेय का इस लोक में आगमन होगा। मैत्रेय ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि कुल से सम्बन्धित है और एकमात्र ऐसे बोधिसत्त्व है, जिनकी पूजा हीनयान और महायान दोनों परम्परा में लोकप्रिय रही है। कहा जाता है कि आचार्य असंग मैत्रेय से मिलने तुषित लोक गए और मैत्रेय द्वारा सूत्र-तन्त्र के रहस्यपूर्ण सिद्धान्तों में दीक्षित हुए।

आचार्य असंग ने मायाजालतन्त्र के द्वारा मैत्रेय की साधना की। लगभग 12 वर्षों तक विभिन्न प्रकार की साधना करने पर भी कोई सिद्धि का शकुन प्रकट न होने पर ये मन ही मन दुःखी हों, अपने साधनास्थल से निकल कर जा रहे थे, तो किसी नगर में एक कुतिया लोगों पर भौंक-भौंक कर काट रही थी, जिसके शरीर के निम्न भाग कीड़ों से पीड़ित थे। यह देख असंग का हृदय द्रवीभूत हो गया और सोचा “यदि इन कीड़ों को न हटाया जाय तो यह कुतिया मर जाएगी और यदि हटाकर फेंक दिया जाए, तो कीड़े मर जायेंगे। इसलिये अपने शरीर का मांस काटकर उसमें कीड़ों को प्रवेश कर दूँगा।” यह सोच, अचिन्त नामक नगर से छुरा ला, भिक्षापात्र और खक्खर नीचे रख, छुरे से (अपनी) जँघा काट, आँखें मूंद कर कीड़े निकालने लगे, तो अपने हाथ हिलने के सिवा वहाँ कुछ भी न पाकर आँखें खोली तो कुतिया और कीड़े वहाँ नहीं थे, परन्तु लक्षणानुव्यञ्जनों से देदीप्यमान भट्टारक मैत्रेय के दर्शन हुए और कहा—

आह तात! मेरे शरण दाता।

सैकड़ों कष्टों से परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं। मैंने इतने दिनों तक साधना की, पर आपने दर्शन नहीं दिये। यह कह वह आँसू बहाने लगे तो (मैत्रेय ने) कहा—

जैसे देवराज (इन्द्र) के पानी बरसाने पर भी
अयोग्य बीज नहीं उगता,
वैसे ही बुद्धों का आगमन होने पर भी
अनधिकारी को सुखानुभूति नहीं होती।

तब मैत्रेय ने कहा ‘अपने कर्मावरण से अवगुण्ठित होने के कारण मेरे दर्शन नहीं हुए। मैं तो सदा तुम्हारे पास रहता हूँ। पहले जप किये हुए मन्त्रों के सब प्रभाव और इस समय के महाकरुणावश अपने शरीर से मांस काटने के कष्ट से तुम्हारा पापावरण धुलकर मेरे दर्शन हुए हैं।

“परिपाकं गते हेतौ यस्य यस्य यदा-यदा ।
 हितं भवति कर्तव्यं प्रथते तस्य तस्य सः ॥
 वर्षत्यपि हि पर्जन्ये नैव बीजं प्ररोहति ।
 समुत्पादोऽपि बुद्धानां नाभव्यो भद्रमश्नुते ॥”

(अभिसमयालङ्कार III 9-10, पृ० 537)

“अभी तुम अपने कन्धे पर मुझे लादकर नागरिकों को दिखाओ।” दिखलाने पर और किसी ने कुछ भी नहीं देखा। एक कलवारिन (मदिरा बेचने वाली) ने एक कुत्ते के पिल्ले को कन्धे पर लादे हुए देखा, जिससे वह भी पीछे अक्षय भोगवाली बन गई। बोझ दुलाई से जीविका चलाने वाले किसी गरीब को चरण का भाग दिखाई दिया, जिसके फलस्वरूप उसे भी समाधि-लाभ और साधारण सिद्धि मिली। उसी समय असंग ने धर्मस्रोत समाधि प्राप्त की। तब मैत्रेय ने आचार्य असंग से पूछा, “तुम और क्या चाहते हो?” आचार्य ने निवेदन किया, “मैं महायान का विकास करना चाहता हूँ”। तब मैत्रेय ने कहा, “मेरे वस्त्र का अंचल पकड़ो।” असंग ने जैसे ही वस्त्र पकड़ा तत्काल वे तुषित (देवलोक) में पहुँचे। योगाचारभूमि की प्राचीन उपवृत्ति में तुषित में छः मास वास करने का उल्लेख और किसी-किसी में 15 वर्ष वास करने आदि अनेक उल्लेख हैं। इस प्रकार असंग ने तुषित लोक में अजितनाथ (मैत्रेय) से सकल महायान धर्मों का श्रवण किया और सब सूत्र तथा तन्त्रों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया। मैत्रेय के पाँच ग्रन्थों¹ का श्रवण करते समय प्रत्येक परिच्छेद के श्रवण करने मात्र से भिन्न-भिन्न समाधि-द्वार के समान उपलब्धि हुई। पुनः मनुष्य लोक में अवरोहित हुए और जगत् हित करते समय परचित्त ज्ञान में उनकी अबाध गति हो गई। इन कारणों से परिलक्षित होता है कि आचार्य असंग ने तृतीय भूमि प्राप्त की थी।

सामान्यतः इन्हें (मैत्रेय को) स्थानक मुद्रा में विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित दिखाया गया है। ये कभी-कभी बैठे भी होते हैं। इनके दाहिने हाथ में पद्म या नागकेशर पुष्प होता है। इस प्रकार मैत्रेय की आकृति पद्मपाणि अवलोकितेश्वर से मिलती-जुलती होती है। इनके मुकुट पर चैत्य या ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि की अनुकृति के आधार पर ही इनकी पहचान सम्भव होती है।

1. मैत्रेय के पाँच ग्रन्थ हैं—1. महायानसूत्रालङ्कार, 2. धर्मधर्मताविभङ्ग, 3. महायान उत्तरतन्त्र, 4. मध्यान्त-विभाग और 5. अभिसमयालङ्कार।

बोधिसत्त्व के रूप में मैत्रेय के प्रारम्भिक वर्णनों में से एक “मञ्जुश्रीमूलकल्प” में है, जिसके अनुसार ये चतुर्भुजी है। दाहिने हाथों में अक्षसूत्र व तथागत को नमन करने की मुद्रा में है तथा बाएं हाथों में दण्ड व कमण्डलु लिए हुए है।

साधनमाला में मैत्रेय का मुख्यतः दो स्वरूपों में विवेचन हुआ है। पहले वर्ग में मैत्रेय मुख्य देवता के रूप में निरूपित है। दूसरे वर्ग में मैत्रेय अन्य देवताओं के साथ सहायक रूप में है। सहायक देवता के रूप में मैत्रेय बोधिसत्त्व के साथ खड़े या बैठे हुए होते हैं और उनके हाथों में चामर और नागकेसर पुष्प होते हैं। मुख्य देवता के रूप में निरूपित होने पर मैत्रेय त्रिमुख, त्रिनेत्र, चतुर्भुज तथा पर्यङ्कमुद्रा में आसीन होते हैं। ये विभिन्न आभूषणों से युक्त होते हैं, इनके दो हाथ व्याख्यानमुद्रा में होते हैं। शेष दो हाथों में वरदमुद्रा एवं नागकेसर पुष्प होता है। एक अन्य उल्लेख के अनुसार मैत्रेय द्विभुज है तथा उनके हाथों में भिक्षापात्र एवं केसरपुष्प होता है।

साधनमाला (साधन सं० 283) में ये त्रिमुख, त्रिनेत्र एवं चतुर्भुज है। इनके दक्षिण एवं वाम मुख क्रमशः नीले एवं श्वेत वर्ण के होते हैं। ये पीत(सुवर्ण) वर्ण के होते हैं। ये पर्यङ्कासनमुद्रा में स्थित है। इनके दो हाथ व्याख्यान(धर्मचक्र)मुद्रा में होते हैं। एक दाहिना हाथ वरदमुद्रा में तथा बायां हाथ पूर्ण पुष्पित नागकेसर पुष्प ग्रहण किये हुए है। ये अनेक वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत होते हैं।

“पीतमैकारपरिणतं विश्वकमलस्थितं त्रिमुखं त्रिनेत्रं चतुर्भुजं कृष्णशुक्लदक्षिण-वाममुखं सुवर्णगौरं सत्त्वपर्यङ्किणं व्याख्यानमुद्राधरकरद्वयं अपरदक्षिणवामभुजाभ्यां वरद-पुष्पितनागकेशरमञ्जरीधरं नानालङ्कारधरमात्मानं मैत्रेयरूपम्...। मैत्रेयः सुवर्णवर्णो द्वाभ्यां कृतधर्मदेशनामुद्रे वरदसव्यकरो।” (साधनमाला, पृ० 560)

“मैत्रेयं बोधिसत्त्वं द्विभुजं जटामुकुटधारिणं सव्यगृहीतचामररत्नं अवसव्येन नाग-केशरपुष्पच्छटाधारिणम्...।” (साधनमाला, साधन सं० 3, पृ० 20)

“...मैत्रेयं बोधिसत्त्वं सुवर्णगौरं द्विभुजं जटामुकुटधारिणं गृहीतचामरदक्षिणकरं नागकेशरपल्लवधरवामकरम्...।” (साधनमाला, साधन सं० 4, पृ० 23)

निष्पन्नयोगावली में भी इनका एक अन्य चतुर्भुज रूप वर्णित है। इसमें मैत्रेय को मञ्जुवज्रमण्डल में बोधिसत्त्वों की सूची के अन्तर्गत सर्वोच्च कहा गया है। वे स्वर्णवर्णी व चतुर्भुजी है। मुख्य हाथ धर्मदेशनामुद्रा में और दायां व बायां हाथ क्रमशः वरदमुद्रा में और नागकेशर पल्लव लिए हुए हैं।

“मैत्रेयः सुवर्णवर्णो द्वाभ्यां कृतधर्मदेशनामुद्रो वरदसव्यकरो वामेन स पुष्पनाग-
केशरपल्लवधरः।” (निष्पन्नयोगावली, पृ० 50)

मञ्जुश्री

बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर के समान बोधिसत्त्व मञ्जुश्री को भी बौद्ध देवकुल में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। बौद्ध मान्यता के अनुसार उनका सम्बन्ध विद्या से है। उनकी उपासना से ज्ञान, स्मरण शक्ति आदि की प्राप्ति होती है। मञ्जुश्री के वास्तविक समय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान का अभाव है। नागार्जुन, अश्वघोष एवं आर्यदेव आदि ने भी उनका उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम मञ्जुश्री का उल्लेख लगभग तीसरी-चौथी शती ई० के ‘आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प’ एवं ‘गुह्यसमाज’ में हुआ है। बाद के ग्रन्थों एवं फाह्यान, ह्वेनसांग और इत्सिंग जैसे चीनी यात्रियों के विवरणों में भी इनके अनेक उल्लेख मिलते हैं। नेपाल और चीन के कई मध्यकालीन ग्रन्थों में मञ्जुश्री की उत्पत्ति से सम्बन्धित कथा विस्तार से वर्णित है। स्वयम्भूपुराण के ‘स्वयम्भूक्षेत्रमाहात्म्य’ में कहा है—

जब आदिबुद्ध अग्निशिखा के रूप में स्वयम्भूक्षेत्र में अवतरित हुए उस समय मञ्जुश्री मूलतः चीन के पञ्चशीर्ष पर्वत शिखर पर एक महात्मा के रूप में रहते थे। उनके अनेक शिष्यों में वहाँ का राजा धर्माकर भी था। वहीं मञ्जुश्री को अपनी आध्यात्मिक शक्ति से जब यह ज्ञात हुआ कि नेपाल में कालीहृद झील के मध्य एक पद्म पर एक अग्निज्वाला के रूप में उनके आराध्य देव आदिबुद्ध का अवतरण हुआ है, तो ये धर्माकर तथा अन्य शिष्यों के साथ आदिबुद्ध के दर्शनार्थ स्वयम्भूक्षेत्र(नेपाल) में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि कालीहृद के मध्य में कमलपत्र के ऊपर अग्निशिखा प्रज्ज्वलित थी, किन्तु वहाँ तक पहुँचने का कोई मार्ग नहीं था। अन्ततः मञ्जुश्री ने अपनी खड्ग(तलवार) से दक्षिण की ओर स्थित पर्वत को चीर दिया और उस मार्ग से कालीहृद झील का जल प्रवाहित हो गया। इस प्रकार झील के स्थान पर एक सुरम्य (काठमाण्डू) घाटी निर्मित हो गयी। वही मञ्जुश्री ने अग्निज्वाला के शिखर पर आदिबुद्ध का मन्दिर(स्तूप) का निर्माण कराया और समीप की पर्वतमाला को मञ्जुश्री पर्वत के नाम से सम्बोधित किया गया, जो आज ‘सरस्वतीस्थान’ के नाम से विख्यात है। इस सम्पूर्ण व्यवस्था की स्थापना के पश्चात् मञ्जुश्री पुनः चीन लौट गये, जहाँ वे इस नश्वर शरीर को त्याग कर दिव्य बोधिसत्त्व के रूप में आविर्भूत हो गये।

महायान के इतिहास में बोधिसत्त्व के रूप में मञ्जुश्री ने सर्वाधिक ख्याति अर्जित की है। सामान्य रूप में मञ्जुश्री के दाहिने हाथ में खड्ग(तलवार) तथा बायें हाथ में पुस्तक है। खड्ग अन्धकार(अज्ञानता) का विनाश तथा पुस्तक ज्ञान का प्रतीक है।

निष्पन्नयोगावली में ये त्रिमुखी व षड्भुजी है। इनके तीन मुख—पीत, नील तथा श्वेत वर्ण के होते हैं। ये दाहिने तीन हाथों में खड्ग, वरदमुद्रा व बाण तथा बायें तीन हाथों में प्रज्ञापारमिता पुस्तक, नीलकमल व धनुष धारण किये हुए हैं।

“पीतनीलशुक्लसव्येतरवक्त्रः षड्भुजो दक्षिणैः खड्गवरदबाणान् वामैः प्रज्ञा-
पारमितापुस्तकनीलाब्जधनूषि बिभ्राणः।” (निष्पन्नयोगावली, पृ० 48)

साधनमाला में मञ्जुश्री के 14 स्वरूपों का वर्णन मिलता है। बौद्ध परम्परानुसार बोधिसत्त्व मञ्जुश्री को पाँच ध्यानी बुद्धों से सम्बद्ध होना चाहिए, जिनमें से कुछ अमिताभ से, कुछ अक्षोभ्य से, कुछ पाँच ध्यानी बुद्धों से उद्भूत हुए हैं और कुछ स्वतन्त्र हैं। सम्भवतः पहले मञ्जुश्री बोधिसत्त्व की स्वतन्त्र कल्पना की गयी थी, पर जब ध्यानी बुद्धों की कल्पना हुई, तब मञ्जुश्री के विभिन्न कल्पित रूप ध्यानी बुद्धों से उत्पन्न माने गए। इस प्रकार जिस प्रतिमा के मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अंकित नहीं हैं, उसे स्वतन्त्र मञ्जुश्री बोधिसत्त्व माना जाता है।

मञ्जुश्री के विविध रूप

अमिताभ से उद्भूत	अक्षोभ्य से उद्भूत	पञ्चध्यानी बुद्धों से उद्भूत	स्वतन्त्र उद्भूत
1. वज्रराग	3. मञ्जुघोष	7. वागीश्वर	11. अरपचन
2. धर्मधातु	4. सिद्धैकवीर	8. मञ्जुवर	12. स्थिरचक्र
	5. वज्रानंग	9. मञ्जुवज्र	14. वादिराट्
	6. नामसंगीति	10. मञ्जुकुमार	15. मञ्जुनाथ

अमिताभ ध्यानी बुद्ध से उद्भूत देवता

1. वज्रराग मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 64) में ये वज्रपर्यङ्क आसन पर समाधिमुद्रा में आसीन है। ये एकमुखी, द्विभुजी एवं श्वेतवर्णी है। वे कुमाराभरण एवं पञ्चचीवर से अलंकृत है। इनके मुकुट पर अमिताभ ध्यानी बुद्ध अंकित है।

“...द्विभुजैकमुखं सितं वज्रपर्यङ्कोपरि समाधिमुद्राहस्तमशेषकुमाराभरणभूषितं पञ्च-
चीरकं मञ्जुश्रीभट्टारकरूपम्”। (साधनमाला, साधन सं० 64, पृ० 129)

2. धर्मधातु वागीश्वर

साधनमाला (साधन सं० 62) में यह चतुर्मुखी एवं अष्टभुजी है। इनका मूलमुख रक्तगौरवर्ण, दक्षिणमुख कुमकुमारुणवर्ण, पश्चिममुख पद्मरक्तवर्ण तथा उत्तरमुख पीत-
रक्तवर्ण है। इनके दो हाथ में धनुष, बाण, दो हाथ में पाश, अंकुश, दो हाथ में प्रज्ञापारमितापुस्तक, खड्ग तथा अन्य दो हाथ में घण्टा, वज्र हैं। वे महाराग शृङ्गाररस से उज्ज्वल ललितासन में स्थित है तथा अनेक वस्त्राभूषणों से अलंकृत है। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अमिताभ अंकित है।

“...अष्टभुजं चतुर्मुखं मूलमुखं रक्तगौरं दक्षिणं कुङ्कुमारुणं पश्चिमं पद्मरक्तं उत्तरं
पीतरक्तं द्वाभ्यां हस्ताभ्यां धनुर्बाणधरं अपराभ्यां पाशाङ्कुशधरं पुनरपराभ्यां प्रज्ञापारमिता-
पुस्तकखड्गधरं तथापराभ्यां घण्टावज्रधरं महारागशृङ्गाररसोज्ज्वलं ललितासनस्थम्
अमिताभजटामकुटिनं...।” (साधनमाला, साधन सं० 62, पृ० 128)

अक्षोभ्य ध्यानी बुद्ध से उद्भूत देवता

3. मञ्जुघोष मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 49) में यह पीतवर्णी, एकमुखी तथा द्विभुजी है। ये
सिंहासन पर ललिताक्षेपमुद्रा या अर्द्धपर्यङ्क सिंहासन में स्थित है। दायां हाथ व्याख्यानमुद्रा
में तथा बायां हाथ में कमल(पद्म) पुष्प है। वे रत्नजटित मुकुट तथा दिव्यालङ्कारों से
अलंकृत है। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य अंकित है।

“...मञ्जुश्रियं ...द्विभुजैकमुखं पीतं ललिताक्षेपमुद्रया सिंहासनस्थं व्याख्यानमुद्रा-
सलीलकरद्वयं रत्नमकुटिनं दिव्यालङ्कारभूषितमुत्पलवामभुजाधिष्ठितमूर्तिकमक्षोभ्य-
मकुटिनम्”। (साधनमाला, साधन सं० 49, पृ० 104)

साधनमाला (साधन सं० 52) में यह कनक गौरवर्णी है। बाकी सम्पूर्ण विवरण
साधन सं० 49 के समान है। यहाँ एक विशेषता यह है कि इनके दायाँ ओर सुधनकुमार
तथा बायाँ ओर यमान्तक होता है।

“...मञ्जुघोषरूपं ...सिंहस्थं कनकगौरवर्णं सर्वालङ्कारभूषितं व्याख्यानमुद्राव्यग्रकरं वामपार्श्वे उत्पलधरं अक्षोभ्यमुकुटिनं दक्षिणे सुधनकुमारं वामे यमान्तकम्”।

(साधनमाला, साधन सं० 52, पृ० 109)

4. सिद्धैकवीर मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 67) में यह श्वेतवर्णी, एकमुखी तथा द्विभुजी है। ये वज्रपर्यङ्कासनमुद्रा में अनेक वस्त्राभूषणों से अलंकृत होते हैं। दक्षिण हस्त वरदमुद्रा तथा वाम हस्त में नीलोत्पल होता है। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य अंकित होते हैं।

“सिद्धैकवीरो भगवान् चन्द्रमण्डलस्थः चन्द्रोपाश्रयो जगदुद्योतकारी द्विभुज एकमुखः शुक्लः वज्रपर्यङ्की दिव्यालङ्कारभूषितः पञ्चवीरशेखरो नानारश्मिगहन उत्तिष्ठति, वामे नीलोत्पलधरो दक्षिणे वरदः ...भगवतो मौलौ अक्षोभ्यम्”।

(साधनमाला, साधन सं० 67, पृ० 140)

सिद्धैकवीर मञ्जुश्री के रूप तथा अवलोकितेश्वर के लोकनाथ रूप में भेद करना सम्भवतः बड़ा कठिन है। प्रत्येक दशा में यह देवता अपने दो हाथों में से दायां हाथ से वरदमुद्रा का प्रदर्शन तथा बायां हाथ में सनाल कमल पुष्प लिए होते हैं। मञ्जुश्री के मुकुट पर अक्षोभ्य ध्यानी बुद्ध की उपस्थिति तथा अवलोकितेश्वर के मुकुट पर अमिताभ ध्यानी बुद्ध की उपस्थिति ही सम्भवतः दोनों के मध्य भेद कर सकने में पर्याप्त समर्थ है।

5. वज्रानंग मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 60) में यह पीतवर्णी, षड्भुजी तथा प्रत्यालीढमुद्रा में है। इनके प्रमुख हाथों में कुसुम, पुष्प एवं धनुष है तथा उस पर रक्तोत्पल कर्णिका बाण रखा है। इनके दायें हाथों में खड्ग एवं दर्पण तथा बायें हाथों में उत्पल एवं रक्ताशोक पुष्प के पल्लव हैं। इनके मुकुट पर ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य अंकित हैं।

“...वज्रानङ्गनामार्यमञ्जुघोषं पीतवर्णं षड्भुजं मूलभुजाभ्यां आकर्णापूरितरक्तोत्पल-कर्णिकाशरयुक्तकुसुमधनुर्धरं दक्षिणद्वयेन खड्गदर्पणभृतं वामयुगलेनेन्दीवररक्ताशोकपुष्प-पल्लवधरम् अक्षोभ्याधिष्ठितजटामुकुटिनम् ...।” (साधनमाला, साधन सं० 60, पृ० 124)

6. नामसंगीति मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 82) में यह रक्तगौरवर्णी, त्रिमुखी एवं चतुर्भुजी हैं। मूलमुख रक्त, दक्षिणमुख नील तथा वाममुख श्वेत वर्ण है। इनके हाथों में प्रज्ञा, खड्ग,

धनुष एवं बाण है, उनके रत्नजटित मुकुट में महापुरुष के 32 लक्षण तथा 80 अनुव्यञ्जन हैं। यह ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य से उद्भूत है तथा वज्रपर्यङ्क आसन पर आसीन है।

“...मञ्जुश्रीभट्टारकं रक्तगौरं पद्मचन्द्रोपरि वज्रपर्यङ्कनिषण्णं प्रथममुखं रक्तं दक्षिणं नीलं वामे शुक्लं इति त्रिमुखं हस्तचतुष्टयेन यथायोगं प्रज्ञाखड्गधनुर्बाणयोगिनं रत्नकिरीटिनं द्वात्रिंशल्लक्षणाशीत्यनुव्यञ्जनविराजितम् ...अक्षोभ्यमौलिनमात्मानं विचिन्तयेत्।”

(साधनमाला, साधन सं० 82, पृ० 159-160)

पञ्चध्यानी बुद्धों से उद्भूत देवता

7. वागीश्वर मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 50, 69, 70) में इस देवता का मन्त्र “ॐ वागीश्वर मुः” है। यह सम्भवतः वागीश्वर के रूप का निर्णय करता है। साधन संख्या 69 में ये पीतवर्णी एक मुखी, द्विभुजी तथा सिंह पर आसीन है, ये सभी अलंकारों से अलंकृत है। इनका दायां हाथ लीलामुद्रा में तथा बायां हाथ एक कमल पकड़े हुए है। इनके मुकुट पर पञ्चध्यानी बुद्ध अंकित है।

“...आर्यमञ्जुघोषं पीतमेकमुखं द्विभुजं पञ्चवीरकुमारं सर्वालङ्कारभूषितं उत्पलधारि-
वामकरं लीलावस्थितदक्षिणकरं सिंहासनस्थपद्मचन्द्रासीनम्...।”

(साधनमाला, साधन सं० 69, पृ० 141)

8. मञ्जुवर मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 54) में यह स्वर्ण वर्णी है। ये सिंह के ऊपर ललितासन पर आसीन हैं तथा इनके दो हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। ये नीलकमल पर प्रज्ञापारमिता पुस्तक पकड़े हुए हैं। वे कुमार के अनुरूप रूप वाले हैं। उनके मुकुट पर पञ्चवीर (पञ्च-ध्यानी बुद्ध) अंकित है तथा ये सभी वस्त्राभूषणालङ्कारों से अलंकृत हैं।

“...भगवन्तं मञ्जुश्रियं तप्तकाञ्चनाभं पञ्चवीरकुमारं धर्मचक्रमुद्रासमायुक्तं प्रज्ञापारमितान्वितनीलोत्पलधारिणं सिंहस्थं ललिताक्षेपं सर्वालङ्कारभूषितम्...।”

(साधनमाला, साधन सं० 54, पृ० 111)

9. मञ्जुवज्र मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 83) में ये त्रिमुख, षड्भुज एवं रक्तवर्ण के हैं। निष्पन्नयोगावली में इनके मुख रक्त, नील एवं श्वेत वर्ण के हैं। दो हाथों से अपनी शक्ति

को आलिङ्गन किये हुए है तथा अन्य चार हाथों में खड्ग, बाण, धनुष एवं नीलोत्पल लिए होते हैं। ये कमल पर वज्रपर्यङ्कमुद्रा में होते हैं। साधनमाला में भी यही विवरण प्राप्त होता है तथा इनकी शक्ति स्वाभप्रज्ञा नाम से सम्बोधित है। इनके मुकुट पर पञ्चध्यानी बुद्ध अंकित है।

“कुङ्कुमारुणसंमूर्तिर्नीलसितत्रयाननः ।
 भुजद्वयसमाश्लिष्टस्वाभविद्याधरस्यधृक् ॥
 खड्गबाणभुजाश्चापनीलोत्पलपरिग्रहः ।
 विश्वदलाब्जचन्द्रस्थो वज्रासनः शशिप्रभः ॥” (साधनमाला, सा० सं० 83)

साधनमाला (साधन सं० 48, 51, 54) में यह कश्मीर(केसर) वर्णी है, वे (दहाड़ते हुए) सिंह के ऊपर रखे सिंहासन पर निर्भान्त ललितासन पर बैठे हुए हैं। उनके दो हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। ये नीलकमल पुष्प को पकड़े हुए हैं, जो बायीं भुजा से निकलता हुआ है। ये नीलकमल पुष्प ‘विश्वकृत्’ मन्त्र की किरणों के सदृश है। इनके मुकुट पर पञ्चध्यानी बुद्ध अंकित है।

“काश्मीरारुणसत्कायमायानिर्जितमन्मथम् ।
 सिंहसिंहासनाक्रान्तं निर्भान्तं ललितासनम् ।
 वामप्रकोष्ठपूर्वेषु नीलेन्दीवरधारिणम् ॥
 धर्मचक्रमहामुद्रानिबद्धकरपङ्कजम् ।
 तद्वदिन्दीवरे तादृक् विश्वकृन्मन्त्ररश्मिना... ॥”

(साधनमाला, साधन सं० 48, पृ० 101)

साधनमाला (साधन सं० 51) में यह स्वर्णवर्णी, एकमुखी व द्विभुजी हैं। ये सिंह के ऊपर पद्मचन्द्रासन पर अर्द्धपर्यङ्कमुद्रा में आसीन हैं। दो हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। दायें हाथ में प्रज्ञापारमिता सहित नीलकमल पुष्प है। ये कुमार रूप में रत्नजटित मुकुट व आभूषण धारण किये हुए हैं तथा बायीं ओर भयावह आकृति वाले नीलवर्णी यमान्तक हैं।

“...द्रुतकनकनिभं द्विभुजमेकमुखं सिंहस्थोपरि पद्मचन्द्रासने अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णं त्रिचीरं रत्नमुकुटिनं चन्द्रप्रभामण्डलं कुमाराकाररूपिणं सर्वालङ्कारभूषितं शृङ्गाररससंयुक्तं... द्वाभ्यां हस्ताभ्यां धर्मचक्रमुद्राधरं अवसव्यभुजासक्तप्रज्ञापारमितासहितेन्दीवरं वामजङ्घाश्रित-यमान्तकं महाक्रोधं नीलवर्णं विकटदंष्ट्राकरालम्...”। (साधनमाला, साधन सं० 51, पृ० 107)

10. मञ्जुकुमार मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 76) में यह त्रिमुखी, षड्भुजी है। ये सत्त्वपर्यङ्क आसन में हैं। तीन मुखों में मुख्य मुख हल्के लालवर्ण, दायां मुख नीलवर्ण तथा बायां मुख श्वेतवर्ण का है। तीन दायें हाथों में पहला खड्ग, दूसरा बाण तथा तीसरा वरदमुद्रा में है। तीन बायें हाथों में पहला प्रज्ञापारमिता पुस्तक, दूसरा नीलकमल पुष्प व तीसरा धनुष है। ये 'कुमार' के सदृश वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं। इनके मुकुट पर पञ्चध्यानी बुद्ध अंकित है।

“मञ्जुकुमारं त्रिमुखं षड्भुजं कुङ्कुमारुणनीलसितदक्षिणेतरोवरदनं सत्त्वपर्यङ्कनं खड्गबाणवरदं दक्षिणकरत्रयं प्रज्ञापारमितापुस्तकनीलोत्पलचापवद् वामकरत्रयं सशृङ्गार-कुमाराभरणनिवसनादिकम्...” (साधनमाला, साधन सं० 76, पृ० 151)

स्वतन्त्र उद्भूत देवता

11. अरपचन मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 55, 56, 58, 65) में अरपचन मञ्जुश्री के रूप का वर्णन है—यह श्वेत वर्णी, द्विभुजी व वज्रपर्यङ्क आसन में हैं। ये दायें हाथ में खड्ग ऊपर की ओर उठाए हुए हैं, जो वक्षस्थल से सटा हुआ है और बायें हाथ में पुस्तक धारण किये हुए हैं। चार देवियाँ (केशनी, उपकेशनी, चन्द्रप्रभा और सूर्यप्रभा) उनकी अनुचर कही गयी हैं। इन्हें कभी अकेले और कभी इन चार देवियों के साथ प्रदर्शित किया जाता है।

“...अरपचनाख्यं सितं सर्वालङ्कारभूषितं हृष्टं ध्यानैकनिष्ठं वज्रपर्यङ्केनोपविष्टं दक्षिणवामकराभ्यां असिपुस्तकौ धारयन्तम्...” (साधनमाला, साधन सं० 56, पृ० 118)

साधनमाला (साधन सं० 80) में प्रज्ञाचक्र नाम से इनका वर्णन मिलता है। यहाँ अन्तर मात्र इतना है कि सहायक देवियाँ अनुपस्थित हैं।

“शुक्लवर्णं मनोरमं पञ्चचीरं महावीरं सर्वालङ्कारभूषितं दक्षिणे उद्यत्खड्गकरं वामहस्तेन हृदिगृहीतपुस्तकम् ...।” (साधनमाला, साधन सं० 80, पृ० 55)

12. स्थिरचक्र मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 44-45) में स्थिरचक्र के दो ही साधन हैं। साधन (सं० 44) में यह एक हाथ में खड्ग उठाए हुए है तथा दूसरा हाथ वरदमुद्रा में है। साधन (सं० 45) में यह अपने दोनों हाथों में खड्ग व पुस्तक लिए हुए हैं। ये रक्तवर्णी (कुङ्कुमाभं) है। वे कुमार के सदृश आभूषण धारण किये हुए हैं।

“कुङ्कुमाभं पञ्चचीरकुमाराभरणं शृङ्गारैकरसं खड्गपुस्तकधरं...।”

(साधनमाला, साधन सं० 45, पृ० 94)

13. वादिराट्¹ मञ्जुश्री

साधनमाला (साधन सं० 46-49, 51-52) में कम से कम आठ साधन वादिराट् मञ्जुश्री से सम्बन्धित हैं। यह स्वर्णवर्णी, एकमुखी एवं द्विभुजी है। ये सिंह के ऊपर पद्मचन्द्रासन पर अर्द्धपर्यङ्कमुद्रा में आसीन हैं तथा दो हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। इनके दाहिने हाथ में प्रज्ञापारमिता सहित नील कमल पुष्प है। ये सोलह वर्षीय कुमार रूप में है तथा बायें हाथ में रत्न जटित मुकुट व सभी अलङ्कारों से विभूषित है। इनके बायीं ओर जङ्घाश्रित भयावह आकृति वाले नीलवर्णी यमान्तक है।

“...द्रुतकनकनिभं द्विभुजमेकमुखं सिंहस्योपरि पद्मचन्द्रासने अर्द्धपर्यङ्कनिषण्णं त्रिचीरं रत्नमुकुटिनं चन्द्रप्रभामण्डलं कुमाराकाररूपिणं सर्वालङ्कारभूषितं शृङ्गारससंयुक्तं ...द्वाभ्यां हस्ताभ्यां धर्मचक्रमुद्राधरं अवसव्यभुजासक्तप्रज्ञापारमितासहितेन्दीवरं वामजङ्घा-श्रितयमान्तकं महाक्रोधं नीलवर्णं विकटदंष्ट्राकरालम् ...।”

(साधनमाला, साधन सं० 51, पृ० 107)

14. मञ्जुनाथ मञ्जुश्री

मञ्जुश्री मञ्जुनाथ—यह त्रिमुखी एवं षड्भुजी है। इनके हाथों में चक्र, वज्र, रत्न, पद्म एवं खड्ग होते हैं तथा छठा हाथ धर्मचक्र मुद्रा में होता है²।

“...व्युत्थाय मञ्जुनाथस्य ...समाहितः ...। ...त्रिमुखं षड्भुजं तथा चक्रवज्ररत्नपद्म-खड्गधरायुधम्”। MS.A-87, Na-86, C-67-8.

(द इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, भट्टाचार्य, पृ० 31)

[क्रमशः]

•

1. वादिराट् मञ्जुश्री के कई अवतार माने गए हैं। इन अवतारों को कुछ निश्चित लक्षणों के आधार पर पृथक् किया जा सकता है। इन साधनों का सूक्ष्म परीक्षण करने पर उन्हें निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक भाग एक विशिष्ट देवता का वर्णन करता है—

- | | | |
|----------------------|---|-------------------|
| (1) साधन सं० 49, 52 | - | मञ्जुघोष |
| (2) " " 47-48, 51-54 | - | मञ्जुवज्र |
| (3) " " 46 | - | धर्मधातु वागीश्वर |

2. द्र०-प्रतिमाविज्ञान, पृ० 301, डी० एन० शुक्ल।

बौद्धतन्त्रों में प्रतिपादित शिष्य-भाव

—बनारसी लाल—

[प्रस्तुत लेख में बौद्धतन्त्र शास्त्रों में वर्णित शिष्य के स्वरूप विशेषकर उसके गुणों एवं सच्छिष्य के लक्षणों की चर्चा की गई है। उसी प्रसंग में शिष्य के अवगुणों की ओर भी दृष्टि डाली गई है। साथ ही गुरुपञ्चाशिका नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित शिष्य के आचरण एवं व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए अन्त में बौद्ध तन्त्रों में प्रतिपादित दक्षिणा के महत्त्व की ओर भी इंगित किया गया है।]

शिष्य शब्द शास् धातु में क्यप् प्रत्यय के योग से बना है। जिसका अर्थ है शिक्षा देना अर्थात् शिष्य उसे कहा जाता है जिसे शिक्षा दी जाती हो या जिसे शिक्षित किया जाता है। शिक्षा ग्रहण करने वाले के लिए भारतीय धर्म-संस्कृति में शिष्य के अतिरिक्त विद्यार्थी, छात्र, अन्तेवासी एवं चेला इत्यादि शब्द भी व्यवहृत मिलते हैं। दूसरे अर्थों में जिसे दीक्षा दी जाती है या जिसे दीक्षित किया जाता है, वह शिष्य होता है। व्यापक अर्थ में जो भी सीखने के लिए इच्छुक है उसे शिष्य कहा जायेगा।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का जो परिचय मिलता है, उसमें दो प्रकार की शिक्षण पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। गुरुकुल पद्धति तथा आश्रम, मठ एवं विहारीय शिक्षण व्यवस्था। जहाँ गुरुकुल व्यवस्था में शिक्षा जीवन की चार अवस्थाओं के अनुसार ब्रह्मचर्य अवस्था तक ही होती थी, जिसमें स्नातक विद्या के हरक्षेत्र में प्रवीण होकर समावर्तन के पश्चात् गृहस्थ जीवन में लौट आते थे, वहीं मठ, आश्रम एवं विहारीय शिक्षण पद्धति में ऐसा नहीं था। वहाँ प्रविष्ट छात्र आजीवन वहाँ रहकर गुरु के सान्निध्य में विविध शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन करते रहते थे। वह वहाँ साधना में रत रहकर आध्यात्मिक जीवन की ऊँचाइयों को प्राप्त करते थे। आधुनिक विश्वविद्यालयों के स्वरूप का प्रारम्भ हम इन्हीं मठ एवं विहारीय शिक्षा पद्धति को मान सकते हैं, जिसका प्रमाण तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला एवं बल्लभी आदि प्राचीन विहार हैं।

गुरुकुलों में अध्ययन करने के लिए प्रायः समाज के सभी वर्गों के छात्र आते थे। उदाहरण स्वरूप हम एकलव्य की घटना को उद्धृत कर सकते हैं। जहाँ राजकुल के राजकुमार एवं अमात्यों के पुत्र भी होते थे, वहीं सामान्य वर्ग के छात्र भी अध्ययन के लिए इन गुरुकुलों में आते थे। गुरुकुल में प्रविष्ट छात्र को गुरु की सेवा, गुरुपत्नी की सेवा, आश्रम में पशुओं की देखभाल, खेती का कार्य, इन्धन की व्यवस्था एवं आश्रम की साफ-

सफाई इत्यादि सभी कार्यों को सम्पन्न करना होता था। सम्भवतः राजन्य वर्ग के लड़के प्रायः घुड़सवारी, तीरंदाजी, तलवारबाजी, मल्लयुद्ध आदि विद्याएँ भी सीखते थे। वहीं मठ एवं विहारीय व्यवस्था में उपसम्पदा (दीक्षा) ग्रहण कर आचार्य के सान्निध्य में रहकर शास्त्रों के अध्ययन और मनन में संलग्न रहते थे तथा साथ ही अध्यात्म से सम्बद्ध चित्रकला, काष्ठकला, प्रस्तरकला, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि लोकोपयोगी विद्याओं को भी ग्रहण कर बहुजन के हित और सुख के कार्यों में सन्नद्ध रहते थे।

भारतीय अध्यात्म शास्त्रों में तन्त्र एक विशिष्ट अध्यात्म यौगिक साधना परक विद्या है। इस विद्या की परम्परा प्राचीन काल से गुरु शिष्य आमनाय के रूप में प्रवाहित होती रही है। इस विद्या के माध्यम से प्राचीन भारतीय कला विशेषकर मूर्तिविज्ञान का प्रभूत विकास हुआ। इस विद्या के अध्ययन एवं साधना में प्रविष्ट होने वाले शिष्य को गुरु से यथा विधान अभिषेक अथवा दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है। अभिषेक अर्थात् दीक्षा प्रदान करने से पूर्व गुरु शिष्य की परीक्षा एवं पात्रता इत्यादि का परीक्षण करता है। बौद्ध परम्परानुसार अभिषेक ग्रहण करने के लिए आवश्यक तत्त्व बोधिचित्त की उत्पत्ति के लिए शिक्षित किया जाता है। अभिषेक प्राप्त करने के पश्चात् वह शिष्य अनेक विध समय एवं संवरों के नियम से बद्ध हो जाता है जिनके उल्लंघन से वह मूलापत्ति एवं स्थूलापत्तियों के दोषों में पतित हो जाता है। इसलिए बौद्धतन्त्रों के अध्ययन और साधना करने वाले शिष्यों की अनेक विध विशिष्ट और असाधारण योग्यताएँ, गुण, आचरण, व्यवहार प्रतिपादित किए गए हैं, जिनके कारण वह शिष्य सामान्य से विशिष्टतर हो जाता है। इसलिए शिष्य को वज्रशिष्य भी कहा गया है।¹ इसी परिप्रेक्ष्य में बौद्धतन्त्र ग्रन्थों में प्रतिपादित शिष्यभाव अर्थात् शिष्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए तन्त्र ग्रन्थों में उपलब्ध सन्दर्भों का यहाँ विश्लेषण करने का प्रयास किया जा रहा है।

तन्त्र की दृष्टि से शिष्य दो प्रकार के होते हैं। इस भेद को स्पष्ट करते हुए कालचक्रतन्त्र टीका विमलप्रभा² में कहा है कि शिष्य दो प्रकार के हैं, एक वह जो महामुद्रा प्राप्ति की अभिलाषा से साधना करता है और दूसरा वह जो लौकिक सिद्धियों की

1. द्रष्टव्य- आर्यदेव रचित चर्यामेलापकप्रदीप ।

2. इह मन्त्रनये शिष्यो द्विधा-एको महामुद्रासिद्धिसाधनार्थी, द्वितीयो लौकिकसिद्धिसाधनार्थी। यो महामुद्रासिद्धिसाधनार्थी, स शून्यतामार्गभावनार्थं सेकेन संग्राह्यः कलशगुह्यादिकेन। योऽसौ लौकिकसिद्धिसाधनार्थी, स मन्त्रमुद्रामण्डलचक्रभावनार्थं ससाभिषेकेण संग्राह्यो मध्यमः पुण्यहेतोरिति। अधमोऽभिषेकेण संग्राह्यो न भवति, स उपासकशिक्षया संग्राह्य इति नियमः।

अभिलाषा से साधना करता है। इसलिए महामुद्रा के अभिलाषी शिष्य को कलश, गुह्य और प्रज्ञाज्ञान आदि अभिषेक प्रदान कर संगृहीत करना चाहिए और लौकिक सिद्धियों के अभिलाषी शिष्य को सात प्रकार के लौकिक अभिषेक प्रदान कर संगृहीत करना चाहिए और जो अधम शिष्य हैं, उन्हें उपासक शिक्षा देकर संगृहीत करना चाहिए।

उपर्युक्त भेद शिष्य की अधिमुक्ति अर्थात् उद्देश्य के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। आचार्य परीक्षा के साथ-साथ शिष्य परीक्षा भी बौद्ध तन्त्रों के विधि-विधान का एक अभिन्न अंग है।¹ आचार्य को शिष्य के उद्देश्य का परीक्षण कर तदनुरूप अभिषेक प्रदान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिष्य-परीक्षण में शिष्य के सद्गुण एवं लक्षणों का भी परीक्षण आवश्यक है। एक सत् शिष्य में क्या-क्या लक्षण और गुण होने चाहिए, इसका बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में बड़े विस्तार से उल्लेख मिलता है। गुणों के साथ-साथ दोषों का भी बराबर उल्लेख मिलता है।

सच्छिष्य के लक्षण एवं गुण

बौद्ध तन्त्रों के अनेक ग्रन्थों में सच्छिष्य के गुणों का उल्लेख हुआ है। सच्छिष्य का लक्षण बतलाते हुए कालचक्रतन्त्र में कहा है²—

गम्भीरोदारचित्तो गुरुनियमरतस्त्यागशीलो गुणज्ञो
मोक्षार्थी तन्त्रभक्तोऽप्यचपलहृदयो लब्धतत्त्वेऽतिगुप्तः ।
दुष्टानां सङ्गनष्टः सुनिपुणगुरुणा ग्राह्यशिष्यः स एव
प्रज्ञासेकादिहेतोरपर इति पुनर्मध्यमः पुण्यहेतोः ॥

अर्थात् शिष्य को गम्भीर एवं उदारचित्त वाला, गुरु द्वारा प्रतिपादित नियमों का सदा आचरण करने वाला, त्याग एवं शील आदि गुणों से युक्त, गुणी, तन्त्र के प्रति श्रद्धावान्, मोक्षार्थी अर्थात् निर्वाण की इच्छा रखने वाला, अचञ्चल हृदय वाला, तन्त्र के रहस्यों को अपात्रों में प्रकट न करने वाला और दुष्टों का संग न करने वाला होना चाहिए। कालचक्र तन्त्र की टीका विमलप्रभा में इन गुणों एवं लक्षणों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यहाँ गम्भीर एवं उदार चित्त से तात्पर्य है कि वह शिष्य शून्यता एवं करुणा से युक्त

-
1. परीक्षा गुरुशिष्याणां गुरोरध्येषणा ततः ।
मन्त्रसेवां गुरुः कुर्यात् ततो भूमेः परीक्षणम् ॥ (क्रियासंग्रह-1)
 2. कालचक्रतन्त्र- 3.4

चित्त वाला हो। शून्यता और करुणा से युक्त शिष्य को ही तन्त्र के अनुसार उत्तम शिष्य माना गया है। गुरुनियम में सदा रत रहने का तात्पर्य है चतुर्दश मूलापत्तियों से रहित होकर सदा दस प्रकार के कुशल कर्मों में रत रहने वाला शिष्य। त्याग और शील का तात्पर्य है सभी प्रकार की आसक्तियों से विवर्जित अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि से निरपेक्ष रहने वाला। यहाँ त्रिरत्न के प्रति श्रद्धावान् को गुणी कहा गया है। मोक्षार्थी से तात्पर्य है जो शिष्य लौकिक सिद्धियों की अपेक्षा न रखता हो और वह न केवल अपनी अपितु बहुजन के हित-सुख एवं निर्वाण की भी इच्छा रखता हो और उसके लिए प्रयत्नशील हो। तन्त्र-भक्त से तात्पर्य है तन्त्रों में जिस प्रकार का 'समय' और 'संवरों' का उल्लेख है, उन 'समय' एवं 'संवरों' का निष्ठापूर्वक पालन करने वाला। अचपल हृदय का तात्पर्य है, ऐसा शिष्य, लौकिक सिद्धियों और लौकिक मार्गों को देखकर जिसका हृदय चञ्चल न होता हो अर्थात् उनकी ओर आकृष्ट न होकर सदा अपने लक्ष्य से न भटकने वाला हो। प्राप्त तत्त्व अर्थात् तन्त्र के अभिषेक द्वारा प्राप्त तत्त्वों के रहस्य को अपात्रों से सदा गुप्त रखने वाला हो और दुष्टों का संग न करने वाला हो। यहाँ दुष्ट से तात्पर्य उन गृहस्थ आचार्यों से है जो धन के लोभी होते हैं। उसी प्रकार तपस्वी या भिक्षु जो मठ-विहारों के द्रव्यों का उपभोग करने वाले होते हैं। तन्त्र के अनुसार इस प्रकार के आचार्यों को दुष्ट कहा गया है अर्थात् सच्छिष्य का लक्षण है कि वह इनकी संगत न करता हो।

चतुर्दश मूलापत्तियों से विवर्जित शिष्य के गुणों का व्याख्यान करते हुए कृष्णयमारितन्त्र में कहा है¹ —

धीरं विनीतं करुणैकचित्तं

श्रद्धाश्रयं क्षान्तिधरं प्रशस्यम् ।

यमारिभक्तं गुरुभक्तिभक्तं

शिष्यं प्रतीतं परिपाचनीयम् ॥

अर्थात् शिष्य को धीर, गम्भीर, विनीत, करुणा से युक्त चित्तवाला, श्रद्धा का आश्रयण करने वाला, क्षान्तिवान्, प्रशस्त, यमारिभक्त और गुरुभक्त होना चाहिए। वहीं इसकी पञ्जिका रत्नावली में इन गुणों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धीर से यहाँ यह तात्पर्य है कि शिष्य ने सकल शास्त्रों का श्रवण एवं पाठ किया हो। विनीत से तात्पर्य है सभी के प्रति परम भक्ति एवं श्रद्धा का आश्रयण करने वाला हो, प्रशस्त का तात्पर्य है

1. कृष्णयमारितन्त्र- 17.19

प्रशस्त अंगों वाला अर्थात् किसी प्रकार की अंगविकलता से युक्त न हो। ऐसे शिष्यों को धर्मदेशना देकर उपकृत करना चाहिए।

संवरोदयतन्त्र में शिष्य का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा है¹—

धीरो गम्भीरधर्मज्ञः प्रतिष्ठावलिपारगः ।

होममण्डलतत्त्वज्ञः सर्वविद्यासु कोविदः ॥

मन्त्रनीतिक्रमे भक्तो रूपवान् प्रियदर्शनः ।

गुरुभक्तः कृपालुश्च संवरोदयप्रकाशितः ॥

अर्थात् शिष्य धीर हो, गम्भीर हो, धर्म को जानने वाला हो। बलि एवं प्रतिष्ठा आदि कर्मों में पारंगत हो। होम एवं मण्डल के तत्त्व को जानने वाला एवं सभी प्रकार की विद्याओं में पण्डित हो। मन्त्र एवं तन्त्र के नय में भक्त हो अर्थात् श्रद्धावान् हो। रूपवान् हो और देखने में अच्छा हो अर्थात् करुणामूर्ति हो। गुरु के प्रति श्रद्धावान् एवं कृपालु हो। इन विशिष्टताओं से युक्त शिष्य संवरोदयतन्त्र में प्रशस्त है। पुनश्च संवरोदयतन्त्र में ही कहा है²—

धीरो विनीतो मतिमान् क्षमावानार्जवोऽशठः ।

दशाकुशलपरित्यागी सत्त्वानां प्रियदर्शनः ।

न स्पृशेत् परद्रव्याणि ज्वलिताग्निविषादिवत् ॥

गुरुपूजासदानित्यं सद्धर्मदेशनोत्सुकः ।

दानादिनिरतानित्यं परलोकाभिकाङ्क्षिणः ॥

तेषां शिष्यप्रशस्तेषु दीक्षयेत् मण्डलं शुभम् ।

अर्थात् शिष्य धीर हो, विनीत हो, मतिमान् हो, क्षमावान् हो। सीधा-साधा अर्थात् कुटिल बुद्धि का न हो, किसी को धोखा न देता हो, जिसने दस प्रकार के अकुशल कर्मों का परित्याग कर दिया हो, देखने में प्रिय हो। जलते हुए अग्नि और विष के समान दूसरे के द्रव्यों को स्पर्श न करता हो। नित्य गुरु की पूजा में रत रहता हो। सद्धर्म की देशना करने के लिए सदा उत्सुक रहता हो। दानादि कर्मों में सदा लगा रहता हो तथा परलोका की अर्थात् निर्वाण की अभिलाषा वाले प्रशस्त शिष्यों को ही गुरु मण्डल में दीक्षित करें।

1. संवरोदयतन्त्र- 17.3-4

2. संवरोदयतन्त्र- 18.8-11

आचार्य इन्द्रभूति विरचित ज्ञानसिद्धि में भी आचार्य एवं शिष्य के लक्षणों तथा गुरु-शिष्य के परीक्षण के सन्दर्भ का पुनः पुनः उल्लेख आया है। सच्छिष्य का गुण बतलाते हुए वहाँ कहा है¹ —

वन्दनादिक्रियाः सर्वाः प्रकुर्यात् सार्वकालिकाः ।

श्रद्धाप्रज्ञासमायुक्तः कृपार्द्रः सर्वजन्तुषु ॥

अक्रोधनोऽविसंवादी त्यागादिगुणभूषितः ।

सुवीर्यवान् महोत्साही गुरोराज्ञां सदाकरः ॥

आज्ञप्तश्च स्वयं बुद्ध्वा परिचर्यादिकं चरेत् ।

यथाशक्ति यथालाभं भोज्यभक्तादिकं तथा ॥

तिरस्कारे कृतेऽप्येवं स्वयमेव न दुर्मनाः ।

शिष्यः सर्वगुणोपेतो युक्त्यागमपरीक्षकः ॥

अर्थात् सभी कालों अर्थात् तीनों कालों में वन्दना आदि क्रियाओं को करने वाला, श्रद्धा और प्रज्ञा से युक्त, सभी सत्त्वों के प्रति कृपा से आर्द्र चित्तवाला, अक्रोधी, अविसंवादी, त्यागी, वीर्यवान्, महा उत्साही, सदा गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, आज्ञा को स्वयं जानकर परिचर्या आदि करने वाला, जो भी भोजन मिले उसी से सन्तुष्ट रहने वाला, तिरस्कार होने पर भी दूसरे के प्रति मन में बुरे विचार न लाने वाला आदि गुणों से युक्त शिष्य होना चाहिए।

गुह्यसमाजतन्त्र की टीका प्रदीपोद्योतन में श्रवण के इच्छुकों के लिए दो प्रकार के व्याख्यान का उल्लेख आया है। एक सत्र व्याख्यान और दूसरा शिष्य व्याख्यान। यथारुत, नसन्ध्या, नेयार्थ, अक्षरार्थ और समस्ताङ्ग को सत्र व्याख्यान कहा गया है। वहीं पाँच प्रकार के पुद्गलों की भी चर्चा है² —

लोके नियतिसंभूताः सर्वदा श्रवणार्थिनः ।

अनेकाकारबुद्धित्वात् पुद्गलाः पञ्च संमताः ॥

रत्नचन्दनपद्माश्च पुण्डरीकस्तथोत्पलः ।

1. द्रष्टव्य- गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह, ज्ञानसिद्धि 14.7-10

2. गु० स० प्रदीपोद्योतन, पृ० 4

ये पुद्गल हैं—रत्न, चन्दन, पद्म, पुण्डरीक और उत्पल। वहाँ प्रत्येक पुद्गल का लक्षण भी दिया गया है। शिष्य व्याख्यान के भाजन पात्र का उल्लेख करते हुए कहा है कि वह निष्पन्नक्रम की साधना के योग्य और सदाचार से विभूषित होना चाहिए। इसीलिए विचक्षण वज्राचार्य को पात्रापात्र की सम्यक् परीक्षा कर एवं पुद्गलों के भेद को जानकर दो प्रकार का व्याख्यान करना चाहिए।

यद्यपि बौद्धतन्त्र शास्त्र बहुत विविध एवं व्यापक हैं, परन्तु बहुत अल्प मात्रा में ही अपने मूल संस्कृत में प्रकाशित हैं। अतः सम्पूर्ण शास्त्रों के आधार पर इस विषय का विवेचन करना अभी शेष रह जाता है। यहाँ सम्प्रति कुछ ही उपलब्ध तन्त्र शास्त्रों के आधार पर बौद्धतन्त्रों में प्रतिपादित शिष्य के लक्षणों एवं गुणों की ओर दिशा-निर्देश करने का प्रयास किया गया है।

शिष्यों के अवगुण

गुणों एवं लक्षणों के साथ-साथ यहाँ शिष्यों के अवगुण एवं दोषों की भी विपुल चर्चा है। आचार्य के लिए निर्देश है कि वह इस प्रकार के शिष्यों का सर्वथा परित्याग करें। यहाँ संक्षेप में उन अवगुणों की चर्चा की जा रही है। संवरोदयतन्त्र में कहा है¹ :

आचार्येण शिष्यः संग्राह्यः कुलीनो धर्म उत्सवः ॥

निष्कृपं क्रोधनं क्रूरं स्तब्धलुब्धमसंयतम् ।

क्रूरमूर्खकठोरश्च परप्राणि च निर्दयः ॥

परद्रव्याभिलाषी च वर्ज्येत गुरुणा सदा ।

अर्थात् जो कृपाहीन हो, क्रोधी हो, क्रूर, लोभी, असंयत व्यवहार करने वाला, मूर्ख, कठोर व्यवहार वाला, दूसरे सत्त्वों पर दया न रखता हो और दूसरों की सम्पत्ति की इच्छा रखता हो, ऐसे शिष्यों को गुरु सर्वदा वर्जित करें अर्थात् उन्हें अपना शिष्य बनाकर तन्त्र की दीक्षा न दें। वहीं संवरोदयतन्त्र में पुनः कहा है²—

गुरुनिन्दो गुरुद्रोही सत्त्वद्रोहो न दापयेत् ।

अमृतं तु विषं तत्र सिद्धिसाधननिष्फलम् ॥

1. संवरोदयतन्त्र- 18.6-8

2. संवरोदयतन्त्र- 26.27

गुरु की निन्दा करने वाला, गुरु के प्रति द्रोह करने वाला तथा सत्त्व के प्रति द्रोह करने वाले शिष्यों को कभी भी तन्त्र की दीक्षा न दें। क्योंकि इस प्रकार के पात्रों के लिए अमृत भी विष के समान हो जाता है और सिद्धि के लिए जो साधना की जाती है वह भी निष्फल हो जाती है। इसीलिए तन्त्रों में गुरु को शिष्य के परीक्षण करने पर अत्यधिक बल दिया गया है। वह शिष्य परहित की बात करता हो तब भी यदि जब तक उसकी परीक्षा न की गई हो तब तक उसे शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहिए। ज्ञानसिद्धि में उदाहरण देते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार बाल-पृथक्जन मिट्टी के पिण्ड को न संभाल कर इधर-उधर फेंकते रहते हैं। उसी प्रकार दोषों से युक्त शिष्य दोषों के वश में होने से तन्त्र के अध्ययन एवं साधना के सम्यक् पात्र नहीं हैं¹—

अपरीक्षकजातीयः पृच्छेत् परहितं च यः ।

शिष्यो न भवितुं शक्यो बुद्धैरेवं प्रदर्श्यते ॥

मृत्पिण्डो हि यथा बालैः क्षिप्यते यत्र तत्र वै ।

तद्वत् परवशः कश्चित् सर्वमस्य न भाजनम् ॥

गुह्यसिद्धि (1.31-52) में आचार्य पद्मवज्र ने शिष्य के दोषों का बड़े विस्तार एवं स्वाभाविक वर्णन किया है। वह कहते हैं कि जो अहंकारी हैं, क्रूर हैं, कपटी, धूर्त, प्रवञ्चक हैं और रागादि में आसक्त रहते हैं उस प्रकार के शिष्यों को परम तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। जो शिष्य छलपूर्वक गुरु को नमस्कार तो करते हैं, परन्तु पीछे छिद्रान्वेषण में तत्पर रहते हैं, मिथ्या अभिमान करते हैं और सदा विवादों में संलग्न रहते हैं, उन्हें सिद्धि नहीं मिलती है।

ये पुनर्मानिनः कूराः शठा धूर्ताः प्रवञ्चकाः ।

रागाद्यसक्तचित्ताश्च कुतो लब्धं कुतो न तु ॥

शाठ्येन तं गुरुं नत्वा छिद्रान्वेषणतत्पराः ।

मिथ्याभिमानिनो दुष्टा वाग्वादेषु सदा रताः ॥

वज्रभातृगुरुणां च वञ्चनबद्धचेतसः ।

प्राप्नुवन्ति न ते सत्त्वास्तत्पदं सिद्धिदं परम् ॥²

1. ज्ञानसिद्धि- 14.11-12

2. गुह्यसिद्धि-1-38-40

कहने का तात्पर्य है कि तन्त्र में अभिषेकादि शिष्य के सम्यक् परीक्षण के पश्चात् ही देना चाहिए।

गुरुपञ्चाशिका में वर्णित शिष्य की चर्या

सच्छिष्य के करणीय एवं अकरणीय चर्याओं का अति विस्तार से उल्लेख अश्वघोष रचित गुरुपञ्चाशिका नामक ग्रन्थ में मिलता है। यद्यपि इस लघुकाय ग्रन्थ में गुरु की महिमा ही गाई गई है, फिर भी व्याजेन गुरु के प्रति शिष्य का व्यवहार ही मुख्य प्रतिपाद्य है। आचार्य इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि 'बहुतन्त्रगीता' अर्थात् यह ग्रन्थ तन्त्र सम्मत है तथा बहुत से तन्त्र ग्रन्थों को आधृत कर इसकी रचना की गई है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि तन्त्रों में गुरु परीक्षा या आचार्य परीक्षा के साथ-साथ शिष्य परीक्षा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसलिए तन्त्र शास्त्रों में शिष्य परीक्षा एवं आचार्य परीक्षा के अधिकार पाये जाते हैं। अतः आचार्य अश्वघोष भी कहते हैं¹—

प्राक्शिष्याचार्यसम्बन्धः कार्यः परीक्ष्य सूरिभिः ।

समानसमयभ्रंशो दोषो हि गुरुशिष्ययोः ॥

अतः तन्त्र की दृष्टि से गुरु एवं शिष्य दोनों की परीक्षा आवश्यक है। गुरुपञ्चाशिका में शिष्यचर्या अर्थात् शिष्य का गुरु के प्रति व्यवहार की एक आचारसंहिता है जिसमें बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से शिष्य को गुरु के समक्ष कैसा व्यवहार एवं आचरण करना चाहिए इस पर प्रकाश डाला है।

इसके प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया है कि यदि शिष्य संवरवान् भिक्षु हो और आचार्य² गृहस्थ वज्राचार्य तो क्या एक संवरवान् भिक्षु का गृहस्थाचार्य को प्रणाम करना इत्यादि लोकनिन्दा का कार्य नहीं होगा? अतः ऐसी स्थिति में शिष्यों के लिए कहा है कि यद्यपि वह अपने गुरु को ही प्रणाम करें, क्योंकि गुरु तो बुद्ध के समान है। परन्तु लोकनिन्दा या अपवाद से बचने के लिए प्रणाम करते समय सामने सद्धर्म की पुस्तकें रखकर शरीर से प्रणाम करें और मन से गुरु को ही प्रणाम करें—

1. गुरुपञ्चाशिका-कारिका- 6

2. आचार्य तीन प्रकार के माने गए हैं—भिक्षु आचार्य, श्रामणेय आचार्य और गृहस्थ आचार्य। इन में दश तत्त्वों का ज्ञानी होने से भिक्षु आचार्य उत्तम, श्रामणेय आचार्य मध्यम और गृहस्थ आचार्य अधम माने गये हैं—

दशतत्त्वपरिज्ञानात् त्रयाणां भिक्षुरुत्तमः ।

मध्यमः श्रामणेराख्यो गृहस्थस्त्वधमस्तयोः ॥ (वि० प्र० II, पृ० 4)

सद्धर्मादीन् पुरस्कृत्य गृही वा नवकोऽपि वा ।

वन्द्यो व्रतधरैर्बुद्ध्या लोकावद्यावहानये ॥¹

सामान्यतः जो भी शिष्य हो, यदि गुरु का अपमान या अवमानना करता है तो वह सदा दुःख भोगता है। विशेष रूप से ईति, उपद्रव, ग्रह, ज्वर, विष आदि द्वारा मारा जाता है और वह अग्नि, जल, तस्कर, डाकिनी आदि के द्वारा मारा जाता है तथा नरकगामी बनता है। इसलिए शिष्य को कभी भी गुरु के चित्त को क्षुभित करने वाला कार्य नहीं करना चाहिए।

शिष्य को गुरु का आदर-सत्कार किस प्रकार करना चाहिए यह बतलाते हुए कहा है कि गुरु के प्रति परम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ यथासम्भव दक्षिणा देनी चाहिए। इतना ही नहीं संवरवान् आचार्य का अपने अदेय पुत्र एवं दारा के द्वारा भी सेवा करनी चाहिए फिर चल-अचल सम्पत्तियों द्वारा तो कहना ही क्या। जो सच्छिष्य होते हैं वे करुणा, उत्सर्ग, शील और क्षान्ति आदि गुणों से युक्त होते हैं। वे चैत्यभंग आदि कर्मों के भय से गुरु की छाया का भी उल्लंघन नहीं करते हैं। फिर उनके द्वारा गुरु के पादुका, आसन एवं यान आदि का उल्लंघन कैसे किया जा सकता है। मतिमान शिष्य को यत्नपूर्वक ध्यान एवं प्रसन्न मन से गुरु की आज्ञा का श्रवण करना चाहिए। गुरु के द्रव्यों की अपने प्राणों से बढ़कर रक्षा करनी चाहिए और गुरु के परिवार जन से स्वपरिवार की तरह व्यवहार करना चाहिए।

गुरु के समक्ष शिष्य का दैनन्दिन आचरण कैसा होना चाहिए, उनमें वर्जनीय आचरणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—गुरु के समक्ष शय्या पर आरोहण (चढ़ना), गुरु के आगे-आगे चलना, उष्णीष आदि को बाँधना, गुरु के आसन की ओर पैर फैलाकर बैठना और कमर पर हाथ रखकर खड़े होना इत्यादि आचरण सच्छिष्य को नहीं करना चाहिए। चाहे गुरु सोए हों, बैठे हों या खड़े हों सर्वदा उनके कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उत्साह से युक्त होकर तैयार रहना चाहिए। सच्छिष्य को गुरु के सामने कभी भी नहीं थूकना चाहिए और न ही पाँव फैलाकर बैठना चाहिए। गुरु के सामने रहते इधर-उधर चलना-फिरना या वाद-विवाद भी नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार अंगों का मर्दन, नृत्य, गीत, वादन और अत्यधिक वाचालता भी नहीं करनी चाहिए। न ही अंगों को मरोड़ना चाहिए और न ही स्तम्भादि का आश्रय लेकर बैठना चाहिए। अङ्गुलियों का स्फोटन भी नहीं करना चाहिए।

युक्तियुक्त करणीय आचरणों का निर्देश करते हुए कहा है कि गुरु सामने बैठे हों तो प्रणाम करके उठना चाहिए और उसी प्रकार बैठते समय भी भक्तिपूर्वक प्रणाम करके बैठना चाहिए। शिष्य द्वारा गुरु की काय द्वारा सेवा करते समय कैसा भाव होना चाहिए इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—पाँव को धोते समय, अंगों को पोंछते समय और अंगों में तेल आदि का मर्दन करते समय पहले गुरु को प्रणाम करना चाहिए और फिर जैसी आज्ञा मिले तदनुसार कार्य सम्पन्न करना चाहिए। कभी गुरु का नाम लेना पड़े तो उस समय अपने गुरु के नाम से पूर्व पूज्य या पूज्यपाद आदि विशेषणों को जोड़कर आदरपूर्वक श्रद्धा से नाम लेना चाहिए। इससे वाक् द्वारा गुरु का किस प्रकार सत्कार होता है यह सूचित होता है।

शिष्य को सदा अहंकार से रहित होना चाहिए। अहंकार से रहित होकर गुरु के समक्ष अञ्जलिबद्ध होकर आदेश प्रदान करें इत्यादि बोलना चाहिए। गुरु के आदेश को अविचलित होकर सुनना चाहिए फिर यथा आदेश कार्य सम्पन्न करना चाहिए। यदि गुरु से निवेदन करते समय या कहीं भी हंसी या खाँसी आदि आ जाए तो मुख को हाथ से ढक लेना चाहिए तब अन्त में मृदु वचनों द्वारा निवेदन करना चाहिए। धर्म के श्रवण में भी शिष्य को अहंकार से रहित होकर सुनना चाहिए। धर्म श्रवण करते समय विनीत भाव से बैठकर शरीर को वस्त्रादि से ठीक से ढक कर फिर जानु को पृथिवी पर साञ्जलि टेककर धर्म की याचना करनी चाहिए। धर्मश्रवण ही नहीं अन्य सामान्य चर्याओं में भी शिष्य को अहंकार से रहित होना चाहिए। जिस प्रकार एक नववधू आचरण करती है, उसी प्रकार लज्जा एवं पाप के भय से शिष्य को भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। शास्ता एवं गुरु के सम्मुख कभी भी विलासमयी चेष्टाएँ नहीं करनी चाहिए।

प्रतिष्ठा, मण्डल, होम, शिष्य संग्रह और व्याख्यान आदि कर्मों के समय शिष्य को सदा गुरु के साथ रहना चाहिए तथा प्रतिष्ठादि कर्मों में प्राप्त दक्षिणा को गुरु को अर्पित कर देना चाहिए। उसमें से गुरु जितना दें मात्र उतने को स्वीकार कर स्वयं एवं दूसरों को भी सन्तुष्ट कराना चाहिए। इस प्रकार अनेक प्रकार के शिष्य के आचरणों को इस लघु ग्रन्थ में स्पष्ट एवं विस्तार से प्रतिपादित किया है।

दक्षिणा का महत्त्व

शिक्षा या दीक्षा के पूर्ण होने के पश्चात् गुरु को दक्षिणा देने की प्रथा भी भारत में प्राचीनकाल से चली आ रही है। तन्त्र संस्कृति में भी यह यथावत् गृहीत प्रतीत होती

है। क्योंकि कहा है कि नाना तन्त्रों में जो दक्षिणा का उल्लेख आया है वह दक्षिणा निरुत्तर है—

आत्मानमपि निर्यात्य पुनर्मूल्यैस्तु मोक्षयेत् ।
नाना तन्त्रेषु निर्दिष्टा दक्षिणेयं निरुत्तरा ॥¹

ज्ञानसिद्धि में इन्द्रभूतिपाद दक्षिणा का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि सदा विश्वगुरु के लिए, सभी बुद्धों के वर्णन के अनुसार उत्तम सिद्धि के लिए दक्षिणा देनी चाहिए। जो-जो भी प्रिय वस्तु हों उन सबकी अक्षय होने की कामना से गुरु को दक्षिणा के रूप में देना चाहिए। दक्षिणा देने से अभिमत कार्य की सिद्धि होती है और यदि दक्षिणा न दे तो उस कार्य में उत्तमता नहीं आती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- कालचक्रतन्त्र-टीका (विमलप्रभा सहित, भाग-1-3), केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, 1986, 1994
- क्रियासंग्रह (बौद्ध लघु ग्रन्थ संग्रह), के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-1997
- कृष्णायमारितन्त्र (रत्नावलीपञ्जिका सहित), के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-1992
- गुरुपञ्चाशिका (बौद्ध लघु ग्रन्थ संग्रह), के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-1997
- गुह्यसमाजप्रदीपोद्योतन-टीका, के० पी० जायससवाल शोध संस्थान, पटना, 1984
- गुह्यसिद्धि (गुह्यादि अष्टसिद्धि संग्रह), के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-1988
- चर्यामेलापकप्रदीप, के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-2000
- ज्ञानसिद्धि (गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह), के० उ० ति० शि० सं०, सारनाथ, वाराणसी-1988
- मञ्जुश्रीमूलकल्प, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1964
- संवरोदयतन्त्र, शीनीची त्सुदा, होकु सायदो प्रेस, तोक्यो, जापान-1974
- सुभाषितसंग्रह, सी० बैडल-(ले मेसॅन), भाग-IV-V, 1903-1904

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (8)

—छेरिंग डोलकर—

[प्रस्तुत अंक में भगवान् बुद्ध द्वारा तन्त्र की देशना शीर्षक में से अनुत्तरयोगतन्त्र की देशना किस प्रकार की, इस विषय को आचार्य बुस्तोन विरचित “सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि द्वारोद्घाटक कुञ्जी” नामक ग्रन्थ का क्रमशः हिन्दी अनुवाद करके दिया जा रहा है।]

अनुत्तरयोगतन्त्र की देशना

सम्पुटतन्त्र (तो० 381) में कहा है¹ —

“कभी महाबोधिचित्त, कभी यथार्थ चर्या का अनुगमन,
कभी तुषित के उत्तम देवताओं में अवतरण तथा कभी विशुद्ध जन्म।
कभी महल से परम (महा) अभिनिष्क्रमण, कभी महाबोधि में पूजन (आगमन),
कभी मार से महान् विजय तथा कभी अभिसम्बोधि की प्राप्ति।
कभी धर्मचक्र का प्रवर्तन, कभी तीर्थिकों का धर्मों द्वारा निग्रह,
कभी सिद्धियों में ईश्वरत्व और कभी श्री तीनों लोकों पर विजय।
और कभी सभी कल्पों में श्रेष्ठ अनुत्तर सिद्धि।”

इस वचन के अभिप्राय से (आधार पर) इस देशना के छह क्रम हैं—

क. प्रारम्भ में बोधिचित्तोत्पाद क्रम।

ख. मध्य में तीन असंख्येय कल्पों में सम्भार का संचय क्रम।

ग. अन्त में अभिसम्बोधि प्राप्ति का क्रम।

-
1. क्वचिद् महाबोधिचित्तं क्वचिच्चर्या यथानुगा ॥
क्वचित्तुषितदेवेषु चङ्क्रमणं तमुत्तमम् ।
क्वचिज्जातिविशुद्धा हि क्वचिन्निष्क्रमणं स्फुटम् ॥
क्वचिद् बोधिमाहायात्रा क्वचिन्मारपराजयः ।
क्वचिद् बोध्यभिसम्बोधिः क्वचिच्चक्रप्रवर्तनम् ॥
क्वचिच्च परतीर्थ्यानां सह धर्मेण निग्रहः ।
सर्वसिद्धीश्वरत्वं च त्रैलोक्यविजयं क्वचित् ॥
क्वचिच्च सर्वकल्पाग्र्यसिद्धैश्वर्यमनुत्तरम् । (सम्पुट० 9.1.2)

घ. बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन क्रम।

ङ. प्रवर्तित शासन (धर्म) का संगायन क्रम।

च. संगृहीत शासन की स्थिति, ये छह क्रम हैं।

(क) प्रारम्भ में बोधिचित्तोत्पाद क्रम

उपदेशमञ्जरी (तो० 1198) में कहा है—

“हमारे शास्ता भगवान् शाक्यमुनि सम्यक्सम्बुद्ध ने प्रद्योतराज के रूप में होते समय प्रणिधि बोधिचित्त उत्पन्न किया और दीपङ्कर के समय प्रस्थान बोधिचित्त को उत्पन्न किया।”

(ख) मध्य में तीन असंख्येय कल्पों में सम्भार संचय क्रम

उपदेशमञ्जरी (तो० 1198) में कहा है—

“तीन असंख्येय कल्पों में भी बोधिसत्त्व स्वरूप भगवान् ने दान आदि पारमिताओं का क्रमशः आचरण करते हुए (उन्हें) पूर्ण किया।”

(ग) अन्त में अभिसम्बोधि प्राप्ति का क्रम

वज्रमाला तन्त्र की टीका (तो० 1795) में कहा है—“हेवज्रपिण्डार्थटीका में भी योगी आचार्य शाक्यमित्र के मतानुसार ही कहा है। लोचावा रिन्छेन जङ्पो (रत्नभद्र) का भी यही मत है—“नेयार्थ में शुद्धोदन पुत्र सिद्धार्थ के रूप में बुद्धत्व प्राप्त नहीं किया, अपितु इससे पूर्व ही बुद्ध हो चुके थे। इसके बाद बारह निर्माण लीलाओं का प्रदर्शन किया।” प्रदीपोद्योतन (तो० 1785) में असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्र का यह उद्धरण दिया है¹—
“इसके पश्चात् सर्वज्ञ का परिवार (पर्वत्) सम्पत्ति कहा जायेगा। जैसे मञ्जुश्री महाराज शुद्धोदन हुए, लोकेश्वर मायादेवी बनी। श्रीदेवी यशोधरा हुई। वज्रसत्त्व राहुल हुए। सर्वनिवरणविष्कम्भी शारिपुत्र हुए। समन्तभद्र स्थविर आनन्द हुए। देवेन्द्र इन्द्र देवदत्त हुए।

1. असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्रे-अथापरं सर्वज्ञपरिवारसम्पत्तिं प्रवक्ष्यामि। तद्यथा—शुद्धोदनमहाराजो मञ्जुश्रीर्भवति। महामायादेवी लोकेश्वरो भवति। यशोधरा श्रीदेवी। राहुलो वज्रसत्त्वः, शारद्वतीपुत्रः सर्वनिवरणविष्कम्भी भवति। आर्यानन्दः स्थविरः समन्तभद्रो भवति। देवदत्तःस्थविरो देवेन्द्रः। श्रीशाक्यमुनिः सम्यक्सम्बुद्धो महावैरोचनो भवति।” (गु० सं० प्र०, पृ० 12)

तथा महावैरोचन सम्यक्सम्बुद्ध श्रीशाक्यमुनि हुए।” रिगि-अरल्लिमहातन्त्र (तो० 427) में भी कहा है¹—

“महाराज शुद्धोदन अरल्लि हैं, वहाँ रिगि महामाया हैं, समस्त जगत् प्रज्ञोपायात्मक है। सिद्धार्थ वज्रसत्त्व हैं।”

इस प्रकार (उन्होंने) पूर्व में ही बुद्धत्व प्राप्त कर लिया था और यहाँ निर्माण (काय) का प्रदर्शन (मात्र) किया है। यदि ऐसा मान लें तो गुह्यसमाज और पञ्चक्रम में नैरञ्जना नदी के तट पर बुद्धत्व प्राप्त करने का जो कथन है, क्या उससे विपरीत नहीं होगा? (ऐसा प्रश्न करे तो) इसमें दोष नहीं है। क्योंकि यह ललितविस्तरसूत्र का उद्धरण है, जो लीला प्रदर्शन के अभिप्राय से कहा गया है। नीतार्थ (की दृष्टि से इसे) तत्त्वसंग्रहतन्त्र (तो० 479) में (इसे) बाह्य अभिसम्बोधि कहा है। आभ्यन्तर अभिसम्बोधि तो—(सभी बुद्धों ने) आस्फानक समाधि से जगाकर परमाभिषेक से अभिषिक्त किये। मायासदृश काय के तीनों आभासों में लीन होने से तीनों आभास विशुद्ध होकर प्रभास्वर वज्रोपम समाधि के द्वारा मार को भग्न कर युगनद्धकाय अभिसम्बोधि को प्राप्त हुए। उसके पश्चात् सभी बुद्धों द्वारा अभिषेक से अधिष्ठित होकर अकनिष्ठ आदि (लोकों) में यथा विनीत विनेयजनों को मण्डल निर्माण करके अभिषेक प्रदान कर तन्त्रों की देशना दी। तत्पश्चात् इस कषाय कल्प के विनेयजनों को विनीत करने के लिए तुषित आदि में स्थित होना आदि बारह लीलाओं द्वारा बुद्धत्व प्राप्ति की लीला प्रदर्शित कर बाह्य-लक्षण धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए उप-विनेयजनों को गुह्यमन्त्रों की देशना दी।

(घ) बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् धर्मचक्र प्रवर्तन क्रम

इसमें उपायतन्त्र, प्रज्ञातन्त्र और अद्वयतन्त्र का धर्मचक्र प्रवर्तन (आदि) तीन विषय हैं—

I. उपायतन्त्र का धर्मचक्र प्रवर्तन—आचार्य आनन्दगर्भ के मतानुसार श्रीगुह्य-समाजतन्त्र को वैष्णव आदि तन्त्रों के प्रति अभिरुचि रखते हुए विषय का परित्याग नहीं करने वाले रागियों को अनुगृहीत करने के लिए परनिर्मितवशवर्ती क्षेत्र (लोक) में देशित माना है। पण्डित अलङ्कलश के मतानुसार तुषित लोक में अपने काय के चार भूतों से

1. शुद्धोदनो महाराजा अरल्लिः प्रकाशितः ।

रिगिस्तत्र महामाया प्रज्ञोपायात्मकं जगत् ॥

वज्रसत्त्वस्तु सिद्धार्थः

। (उद्धृत-अमृतकणिका नामसंगीति टिप्पणी, पृ० 11)

कूटागार का निर्माण किया, तत्पश्चात् स्कन्ध-धातु-आयतन से मण्डल के देवों का निर्माण कर वहाँ गुह्यसमाजतन्त्र की देशना दी। प्रदीपोद्योतन के अनुसार तुषित लोक में ही सभी तन्त्रों की देशना स्वीकार की जाती है। भोट गुरुओं के मतानुसार तन्त्रों की देशना ओड्डियान में स्वीकार की जाती है।

यहाँ (ओड्डियान में) राजा इन्द्रभूति ने आकाश में श्रावक संघ को प्रातः पूर्व से उत्तर की ओर तथा अपराह्न में उत्तर से पूर्व की ओर जाते हुए देखकर यह क्या है? ऐसा पूछने पर (उत्तर) में 'शाक्यमुनि बुद्ध के श्रावक हैं' ऐसा सुनकर तब (उनके प्रति) श्रद्धा उत्पन्न हुई। फिर विस्तृत पूजा का आयोजन कर "भगवान् सपरिवार मेरे स्थान पर पधारें" ऐसी प्रार्थना की। सपरिवार भगवान् के वहाँ पहुँचने पर पूजा एवं सत्कार द्वारा सन्तुष्ट कर "हमें भी सर्वज्ञ मार्ग पर आरूढ करें" ऐसी प्रार्थना की, तो (भगवान् ने) कहा—"गृह त्याग कर, प्रव्रजित होकर तीन शिक्षाओं में शिक्षित हों"। (राजा ने पुनः भगवान् से) निवेदन किया "हम लोग काम का भोग करते हुए बुद्धत्व प्राप्ति का उपाय चाहते हैं"। तब शास्ता ने निर्माणकाय के आभास को संहरण कर, श्रीगुह्यसमाज के मण्डल का निर्माण कर राजा इन्द्रभूति आदि भाग्यवान् श्रवणार्थियों को विद्या-अभिषेक प्रदान कर श्रीगुह्यसमाजतन्त्र की देशना देकर वज्रधर्म को तन्त्र समर्पित किया, ऐसा स्वीकार किया जाता है।

II. प्रज्ञातन्त्र का धर्मचक्र प्रवर्तन—श्रीसर्वबुद्धसमायोगडाकिनीजालसंवरनाम उत्तरतन्त्र (तो० 366) का तो शास्ता ने अनेक कल्प पूर्व अभिसम्बोधि प्राप्त कर इस कल्प के पूर्व ही महावज्रधर ने भाजन और सत्त्व चलाचल वस्तु के शुद्धिकरण हेतु महाकरुणा द्वारा निर्माणचक्र का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् देव आदि भाग्यवान् लोगों को अनुगृहीत करने के लिए सुमेरु शिखर पर मण्डल का निर्माण कर विशुद्धयोग को स्पष्ट करने हेतु बीस हजार श्लोकात्मक द्विचत्वारिंशतकल्प मूलतन्त्र, सर्वप्रियसंग्रह दशकल्पात्मक संग्रहतन्त्र तथा उसके सात कल्पात्मक उत्तरतन्त्र और पाँच कल्पात्मक उत्तरोत्तरतन्त्र की देशना दी।

चक्रसंवरतन्त्र—कलियुग में जम्बूद्वीप के मध्य मगध देश में रुद्र कालभैरव अपनी पत्नी कालरात्रि के साथ समापत्ति में लीन थे। उस समय आकाश से चार देव और चार गन्धर्व प्रकट हुए और जम्बूद्वीप के आठ महादेशों को ग्रहण करने से ये खेचर पीठ (भूमि) बने। भूचर से चार यक्ष और चार राक्षसों द्वारा जम्बूद्वीप के आठ महादेशों को ग्रहण करने से ये भूचर पीठ (भूमि) बने। पाताल से चार नाग और चार असुर प्रकट

होकर आठ महादेशों को ग्रहण करने से ये पातालवासी पीठ (भूमि) बने। चार किन्नर और चार उच्छुष्म मातृकाओं सहित इन आठों ने चण्डोग्र आदि आठ महाशमशानों को ग्रहण किया। इन सभी द्वारा, तीनों लोकों पर अधिकार करने की इच्छा से महेश्वर क आवाहन कर पूजा करने पर महेश्वर देवी उमा के साथ आलिङ्गन में लीन होने से जा नहीं पाये। तब उन्होंने (अपने) निर्माणकाय के रूप में चौबीस अग्र वज्रलिंग निर्मित कर प्रत्येक देश (पीठ) में एक-एक को अधिष्ठित किया। उन लोगों के द्वारा भी उस अधिष्ठान को आलम्बन मान कर पूजा करते हुए गणचक्र (पूजा सम्पन्न) किया। ठीक उसी समय सपरिवार रुद्र के दमन का समय जानकर निर्माणकाय फलरूपी हेरुक उठकर सुमेरु पर्वत के शिखर पर आये। तब (वहाँ) अक्षोभ्य ने आसन सहित कूटागार (उन्हें) अर्पित किया। रत्नसम्भव ने चौबीस वीर और चौबीस वीरेश्वरियों को निर्माण करके भेंट किया। अमिताभ ने बारह देवियों को निर्माण कर भेंट किया। अमोघसिद्धि ने कवच रूपी बारह देवों को निर्माण कर अर्पित किया। वैरोचन ने स्कन्ध-धातु-आयतन अधिष्ठित देवताओं को निर्मित कर अर्पित किया। ये सभी निर्माणचक्र हैं। इन निर्माण परिषदों में भी अचिन्त्य निर्माण और उपनिर्माण गण हैं, जो श्रोतागण के रूप में हैं।

तत्पश्चात् सम्भोगकाय समाधिस्थ होकर इस जम्बूद्वीप में चार मुख एवं बारह हाथ वाले भगवान् संवर का निर्माण कर रुद्रभैरव और कालरात्रि को पाद के नीचे दबाकर दमन करने से भैरव पाताल में अभिसम्बुद्ध हुए। समन्तभद्र आदि चौबीस बोधिसत्त्व क्रोध (देव) के रूप में निर्मित होकर और वज्रदूती आदि देवियाँ क्रोध (देवियों) के रूप में निर्मित होकर समापत्ति में लीन हुए। चौबीस पीठों में स्थित खण्डकपाल आदि चार देवों और चार गन्धर्वों को चित्तचक्र के, चार यक्षों तथा चार राक्षसों को वाक्चक्र के तथा चार नागों और चार असुरों को कायचक्र के मातृ-पितृ देवों ने दमन किया। ग्रामान्त, उपग्रामान्त अथवा पीलव, उपपीलव में स्थित चार किन्नरियों और चार विचित्रा अथवा उच्छुष्म (डाकिनी) अर्थात् आठ किन्नरियों को क्रोध (देव) त्रैलोक्य विजय तथा देवी गौरी आदि आठ मातृ-पितृ और चार द्वारपालिन तथा पितृ (देवों) को चण्डमुख (ཁེང་པ་ལྷ་པོ་) के रूप में गोपित किया। चार सन्धियों में पितृ (देवों) को अर्ध रूप में गोपित कर मातृकाओं के काय में प्रदर्शित कर आठ किन्नरियों का दमन किया। मामकी आदि चार मातृ देवियों को चार हृदय योगिनियों के रूप में निर्मित किया। यहाँ साक्षात् नहीं कहने पर भी तात्पर्य यह है कि महेश्वर (शिव) की चार पत्नियों को विनीत किया। इनका दमन क्रम भी अधिकार, आभोग और लय के क्रम से किया। यहाँ काय में अधिकार का तात्पर्य है समान

नाम और समान वेश में परिवर्तित कर महेश्वर आदि देवताओं को गिराकर महेश्वर को पाद तल द्वारा आक्रान्त कर पत्नियों का हरण कर भोग किया। वाक् अधिकार का तात्पर्य है—लौकिक खण्डकपाल आदि का प्राण-मन्त्र कर-कर आदि को जापकर काय-वाक्-चित्त के हृदय (मन्त्र) ॐ और हूँ हूँ फट् के मध्य डालकर अधिष्ठित किया। चित्त अधिकार का तात्पर्य है—अविकल्प रूप में मूर्छित करना।

आभोग—भार्याओं को चार आनन्दों द्वारा भोग कर, अस्थिमाला का हरण कर शरीर में धारण किया। सम्पत्ति का हरण कर गणचक्र किया। अस्त्र का हरण कर हस्त आयुध के रूप में धारण किया। शव आसन आदि का हरण कर आसन बनाया। निवास स्थान का हरण कर प्रासाद बनाया। लय—प्राण का लय तो आवरण परिशुद्ध प्रहाण सम्पत्ति है। चित्त लय—चित्त प्रभास्वर में मिलकर युगनद्ध में स्थापित होना अधिगम-सम्पत्ति है। इसलिए बुद्धत्व प्राप्ति का स्थान अकनिष्ठ स्थान सम्पत्ति है। विनेय जनों को विनीत करने का स्थान जम्बूद्वीप है। मण्डल निर्माण कर तन्त्र की देशना का स्थान सुमेरु पर्वत शिखर है। शास्ता—त्रिकायात्मक संवर, परिषद्—विनेय-परिषद् अर्थात् सपरिवार रौद्र भैरव मण्डल में न्यस्त पाँच चक्रों के देवगण, श्रावक-परिषद्—सुमेरु पर्वत परिमाण बुद्ध और बोधिसत्त्व तथा भाग्यवान् देव एवं मनुष्य, अध्येषक-परिषद्—वाराही तथा वज्रपाणि तथा संग्राहक-परिषद्—वही दो अर्थात् वाराही और वज्रपाणि, धर्म—संवर मूल एवं भाष्य तन्त्रों की देशना दी।

हेवज्रतन्त्र—वज्रमाला की टीका में कहा है—“समय—संवरतन्त्र की देशना करने के पश्चात् निर्माणकाय द्वारा मगध में चार मारों को भग्न करते समय, स्थान—जम्बूद्वीप में देशना दी”। हेवज्र की अधिकतर टीकाओं में समय और स्थान का निश्चित कथन प्राप्त नहीं होता। आचार्य कामधेनु रचित टीका में कहा है—“समय—निर्माणकाय के जम्बूद्वीप में रहते समय, पुनः, स्थान—राजगृह आदि सामान्य स्थानों में”। दूसरी टीका में—वज्रयोषित के भग धर्मोदय के भीतर स्थित कूटागार के मध्य में लोक एवं लोकोत्तर अनेक परिषदों द्वारा परिवृत के मध्य में वज्रगर्भ और नैरात्म्या आदि द्वारा अध्येषणा करने पर इसकी देशना दी, ऐसा स्वीकार किया जाता है।

III. अद्वयतन्त्र का धर्मचक्र प्रवर्तन—आर्यदेश में, वैशाख पूर्णिमा के भोर में शास्ता ने बुद्धत्व प्राप्ति की लीला दिखला कर धर्मचक्र प्रवर्तन कर तीनों यानों की देशना की। बारहवें माह चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन श्रीधान्यकटक के स्तूप के भीतर जो ऊपर से नीचे छह योजन एक कोस है, नीचे धर्मधातुवाग्मण्डल और उसके ऊपर श्रीनक्षत्र-

मण्डल को स्फारित कर महासुख के स्थान वज्रधातुमहामण्डल के ऊपर वज्रसिंहासन पर विराजमान होकर शास्ता शाक्यमुनि कालचक्र समाधि में समाधिस्थ हुए। बुद्ध और बोधिसत्त्व, क्रोध, देव, नाग और देवी गणों से परिवृत्त होकर मण्डल में न्यस्त हुए। छियानबे राजा आदि भाग्यवान् विनेयजनों के श्रोता परिषद् को, अध्येषक परिषद् सुचन्द्र द्वारा अध्येषणा किए जाने पर लौकिक एवं लोकोत्तर अभिषेक देकर देव और असुर आदि को बुद्धत्व में व्याकृत करके द्वादशसाहस्रिका मूलतन्त्र के धर्मों की देशना दी।

लघुतन्त्र—शास्ता के महापरिनिर्वाण के छह सौ वर्ष बाद मञ्जुश्री यश हुए। यश ने एक सौ वर्षों तक मूलतन्त्र की देशना करने के पश्चात् साढ़े तीन करोड़ ब्रह्मऋषियों को विनीत करने का समय जानकर मूलतन्त्र का संग्रह किया, जिसे मञ्जुश्रीयश ने स्रग्धरा छन्द में श्लोकबुद्ध कर देशना दी।

(ड) प्रवर्तित शासन (धर्म) का संगायन क्रम

इसमें नेयार्थ और नीतार्थ दो क्रम हैं—

नेयार्थ—सामान्यतया ऐसा कथन बहुत मिलता है कि अधिकांश तन्त्रों का संग्रह वज्रपाणि ने किया, क्योंकि (यह) गुह्यतन्त्र के अधिपति और सभी तथागतों के श्रावक हैं। यहाँ टीकाओं में तन्त्र का जो अध्येषक है और अन्त में जिसे समर्पित किया जाता है वह संग्रहकर्ता है, ऐसा बहुतायत में कहा गया है। जैसे द्विकल्प (हेवप्रतन्त्रराज, तो० 417) को वज्रगर्भ द्वारा संगृहीत किया है, संवरोदय(तन्त्र) वज्रपाणि द्वारा, वज्रडाक(तन्त्र) वाराही द्वारा और वज्रामृत(तन्त्र) मामकी द्वारा संगृहीत है।

उपायतन्त्र गुह्यसमाज—ज्ञानपाद परम्परा की किसी टीका में कहा है—“तन्त्र वज्रधर्म को सौंपा। वज्रधर्म अवलोकितेश्वर हैं; क्योंकि विशुद्ध जिह्वा होने से इस शासन में वाक् वज्र प्रधान होने के कारण उनके द्वारा संगृहीत है।” किन्तु, चन्द्रकीर्ति आदि अधिकांश लोगों का मानना है कि वज्रपाणि को तन्त्र सौंपकर वज्रधर्म धर्मराज के रूप में अभिषिक्त (वज्रपाणि) का नाम है। इसलिए वज्रपाणि द्वारा ही संगृहीत माना जाता है। ऐसे भी बहुत से कथन हैं कि अधिकांश मातृतन्त्र वज्रपाणि द्वारा संगृहीत हैं। यह कथन (इस) तन्त्र से भी साम्य रखता है। ज्ञानतिलक (तो० 422) में कहा है—“हे भगवन्! अनागत काल में इस सम्यक् गुह्यतन्त्र का भव्य सत्त्वों को कौन देशना देगा? भगवान् ने कहा—नाथ श्रीवज्रपाणि द्वारा कहा जायेगा”। और तत्त्वालोकतन्त्र (तो० 423) में कहा है—“इस गुह्य महातन्त्र का ज्ञाता और व्याख्याता कौन होगा? भगवन् ने कहा—उत्तर दिशा में श्रीवज्र का स्थान ओड्डियान के राजा इन्द्रभूति इसके ज्ञाता होंगे और वह (इसे) व्याख्या कर सत्त्वों में

प्रकाशित करेंगे। देवी ने पूछा—हे भगवन्! वह राजा इन्द्रभूति किस भूमि के ईश्वर हैं? कहें। भगवान् ने श्रीज्ञानतिलकतन्त्रराज (तो० 422) में कहा है—जो मेरे द्वारा कहा गया राजा वज्रपाणि है वही इन्द्रभूति के रूप में निर्मित काय दशभूमीश्वर ज्ञानकाय चौदहवीं भूमि के ईश्वर हैं।” इस प्रकार कहकर पहले गुह्यसमाज में कथित के समान ओड्डियान में सपरिवार राजा इन्द्रभूति को अभिषिक्त किया। ऐसा माना जाता है कि तन्त्र की देशना देने के पश्चात् सुमेरु पर्वत के उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित अलकावती प्रासाद में छियानबे करोड़ बोधिसत्त्वों ने एकत्र होकर गुह्यपति से अध्येषणा की। अतः गुह्यकाधिपति ने समस्त तन्त्रों को संगृहीत कर लिपिबद्ध किया। जैसा इन्द्रभूति द्वारा रचित संवर मूलतन्त्र की टीका (तो० 1413) में कहा है—

“ओड्डियान क्षेत्र में इन्द्रभूति द्वारा ज्ञानोत्तमसंवर की अध्येषणा के समय, एक ही क्षण में श्रीमान् नक्षत्रमहामण्डल में देव-मनुष्य सहित आठों वर्गों को वश में करके क्रमशः चारों द्वारों से आहूत चार महादेव आदि (वहाँ) स्थित देव मण्डप में प्रविष्ट हुए।

सपरिवार राजा इन्द्रभूति को अभिषिक्त और अधिष्ठित कर परोक्ष में महागुह्य अनुत्तर धर्म रूपी उत्तम वज्रयान के धर्मचक्र को प्रवर्तित किया। बाद में क्रमशः संग्रहकर्ता के व्याकरण द्वारा, सुमेरु पर्वत के उत्तर-पूर्व में श्रेष्ठ देवालय अलकावती महाप्रासाद में छियानबे करोड़ महासत्त्व एकत्र होकर भट्टारक गुह्यकाधिपति से अशेष तन्त्रों की अध्येषणा करते समय मैंने ऐसा सुना, इस कथन को सुवर्ण पत्र पर वैदूर्य से लिखा गया। इसके पश्चात् भविष्यत् काल के विचार से ओड्डियान क्षेत्र में नागभूत डाकिनी गण को अधिष्ठित किया। गुह्यधर्मकोष धर्मगञ्ज में श्रीमान् स्वयंभू के गन्धोला प्रासाद में डाकिनीश्वर अभिरति आदि को अधिष्ठित कर अभिषिक्त किया तथा भविष्य के भाग्यवान् लोगों को अनुज्ञा प्रदान कर उपकृत किया। ऐसा योगिनीहृदयतन्त्र का अभिप्राय है।”

कालचक्र — शास्ता द्वारा मूलतन्त्र की देशना के पश्चात् राजा सुचन्द्र ने द्वादश साहस्रिका मूलतन्त्र का सम्यक् संग्रह कर षष्टिसाहस्रिका टीका की रचना कर मनुष्यों को (इस तन्त्र) की देशना दी और कालचक्र मण्डल का भी निर्माण किया। उसके पश्चात् छह धर्मराजाओं ने मूलतन्त्र एवं टीका की सौ-सौ-वर्ष तक देशना दी। उसके पश्चात् मञ्जुश्री यश ने सौ वर्ष तक मूलतन्त्र की देशना करने के पश्चात् ऋषियों ने विस्तृत मूलतन्त्र का लघुसंग्रह कर हमें देशना करें, ऐसी अध्येषणा की। तब मञ्जुश्री (यश) ने द्वादशसाहस्रिका मूलतन्त्र का सम्यक् संग्रह कर स्रग्धरा छन्द में बद्ध त्रिंशत् साहस्रिका के रूप में संग्रह कर देशना दी।

नीतार्थ—इस प्रकार देशक, परिषद्, श्रोता और संग्रहकर्ताओं को भिन्न मानकर इसमें श्रद्धा रखने वाले पुद्गलों को विनीत करने के लिए शास्ता के ही ज्ञान से निर्मित देशक, परिषद्, संग्रहकर्ता आदि भिन्न प्रदर्शित किये हैं। किन्तु, तन्त्रों में भेद नहीं है। जैसे हेवज्रतन्त्र में कहा है—“व्याख्यान कर्ता मैं हूँ और धर्म भी मैं ही हूँ, स्व-गणों से युक्त भी मैं ही हूँ।”¹

इस प्रकार स्वयं से पृथक् संग्रहकर्ता द्वारा संग्रह भी विनयेजनों के लिए नेयार्थ रूप में प्रदर्शित है। वस्तुतः शास्ता स्वयं द्वारा ‘एवं मया’ ऐसा जो कहा है, को तीक्ष्णेन्द्रियों ने तन्त्र का अर्थ संक्षेप में दर्शाया है, ऐसा मृदु (इन्द्रियों) द्वारा संगीतिकारों ने निदान के रूप में कहा, ऐसा माना है। किन्तु (यह) बुद्ध के धर्म देशना के बाद संग्रहकर्ता द्वारा जोड़ा गया शब्द नहीं है। यदि ऐसा हो तो तन्त्र देशना कर्ता द्वारा उसकी व्याख्या करना उचित नहीं है। अनेक तन्त्रों में निदान व्याख्या कहा गया है। इसलिए यह शास्ता की ही देशना है ऐसा निश्चित है। जैसे गुह्यसिद्धि² में कहा है—

“श्रीगुह्यसमाज का संग्रह कर्ता अन्य कोई नहीं है।

यह मेरे द्वारा ही कहे गए हैं, तन्त्र के सृष्टा महाकृप (हृद्वज्र) हैं।”

(च) संगृहीत शासन की स्थिति क्रम

महायोग उपायतन्त्र सामान्य शासन की स्थिति पर्यन्त रहेगा। यथा प्रदीपोद्योतन³ (तो० 1785) में कहा है—

“जब तक लोक में सद्धर्म स्थित है, तब तक वज्रयान, महायोगतन्त्र के आगम पर आश्रित होकर...”

अतः (बुद्ध)शासन की स्थिति पर्यन्त वज्रयान भी स्थित रहेगा ऐसा कहा गया है।

प्रज्ञातन्त्र—डाकार्णवतन्त्र (डाकार्णवमहायोगिनीतन्त्र तो० 372) में कहा है⁴—
“कल्प दहन के समय में अन्यत्र गति में जाकर संस्थित होता है”।

1. व्याख्याताहमहं धर्मः श्रोताहं स्वगणैर्युतः। (2.2.39)

2. द्र०— वयं तु केवलं ब्रूमो गुरुपादप्रसादतः ।

अभावः श्रीसमाजस्य अन्यसंगीतिकारकः ॥

स्रष्टा तन्त्रस्य हृद्वज्रो वक्ता स एव देशकः । (2.4-5)

3. यावल्लोके सद्धर्मः स्थाता तावद् वज्रयाने महायोगतन्त्रागममाश्रित्य...। (पृ० 229)

4. कल्पदाहादिकालेषु गतमन्यत्र संस्थितम्। (छठा पटल)

संवरतन्त्र के चौबीस पीठों के वीर एवं योगिनियों द्वारा अभ्यास करने से विना अस्त हुए यह सदैव स्थित रहता है। इस कथन का अभिप्राय है कि उन सिद्धयोगिनियों के समक्ष अस्त नहीं होता है, इसे जम्बूद्वीप के सामान्य लोगों की दृष्टि से नहीं कहा है। योगिनीसंचारतन्त्र (तो० 375) में कहा है¹—

“उद्देश से निर्माण(काय) और निर्देश से संभोग(काय) माना है।

पुनः प्रतिनिर्देश से अशेष निर्वाण तत्त्व को दिखलाया है।”

इस प्रकार प्रतिनिर्देश मूलतन्त्र को धर्मकाय, निर्देश (मूलतन्त्र) को सम्भोगकाय और उद्देश (मूलतन्त्र) को निर्माणकाय के रूप में कहा है। प्रतिनिर्देश बुद्धों के हृदय में स्थित है। निर्देश मूलतन्त्र महाबोधिसत्त्वों के गोचर होने पर सदा अविच्छिन्न रूप में स्थित रहता है, परन्तु उद्देशतन्त्र निर्माणकाय के द्वारा कहीं निर्माण प्रदर्शित कर और कहीं परिनिर्वाण प्रदर्शन की भाँति भाग्यहीन लोगों के मध्य अस्त होने का प्रदर्शन करते हैं।

अद्वयतन्त्र कालचक्र का मत—लघुकालचक्रतन्त्र में कहा है²—

“युगों के वर्ष का प्रमाण इक्कीस हजार और सौ रसों $100 \times 6 = 600$ (21600) से युक्त है।

प्रत्येक (युग) का प्रमाण युग-शर (54) से मनुष्यों का सौ वर्ष गुणा करने पर।”

इस प्रकार बारह खण्डों में प्रदर्शित इक्कीस हजार छह सौ साल स्थित रहेगा। यहाँ कृतयुग पाँच हजार चार सौ साल, इसी प्रकार त्रेता, द्वापर और कलियुग में भी पाँच हजार चार सौ साल कहा है। बारह द्वीपों को पृथक् करें तो प्रत्येक द्वीप में असाधारण भव्य कल्प में एक हजार आठ सौ वर्ष स्थित रहेगा। सामान्यतः दक्षिण के तीन द्वीपों में पाँच हजार चार सौ वर्ष रहता है।

•

1. उद्देशेन तु निर्माणं निर्देशं सांभोगिकं मतम् ।
प्रतिनिर्देशं समस्तं वै निर्वाणं तत्त्वदर्शितम् ॥ (13.11-12)
2. विंशत्येकं सहस्रं रसशतसहितं वर्षमानं युगानाम्
एकैकस्य प्रमाणं युगशरगुणितं मानवाब्दे शतं यत् ॥ (1.23)

वज्रयान की भूमि एवं मार्ग व्यवस्था (2)

—छोग दोर्जे—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत सेरतोग लोजङ्ग छुलिठम ग्यात्सो द्वारा विरचित ग्रन्थ तन्त्र की भूमि एवं मार्ग व्यवस्था नामक ग्रन्थ का क्रमशः हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ किया गया है। प्रथम अंक में सामान्य यान की व्यवस्था एवं महायान की व्यवस्था को प्रस्तुत किया गया था, इसी क्रम में यहाँ क्रिया, चर्या एवं योगतन्त्र की संक्षिप्त साधना विधि का क्रमशः हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है।]

समय शुद्धि के द्वारा मार्ग भावना की विधि

इसके दो भेद हैं—सामान्य अर्थ एवं अवयवार्थ।

सामान्यार्थ—क्रिया आदि तीन निम्न तन्त्रों में उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम का अर्थ, नाम और व्यवहार आदि कुछ भी उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि सलक्षण वास्तविक उत्पत्तिक्रम के लिए व्यवदान पक्ष का अर्थात् फल सम्बुद्ध भूमि के चार सम्पत्ति के अनुकूल मार्ग का वर्तमान काल में भावना करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु संक्लेश-पक्ष के संसार में जन्म, मृत्यु और अन्तराभव इन तीनों के अनुकूल मार्ग की भावना भी वर्तमान काल (साधना काल) में करना आवश्यक होता है। तीनों निम्न तन्त्रों में संक्लेश पक्ष का जन्म, मृत्यु और अन्तराभव के अनुकूल मार्गीकरण की भावना क्रिया आदि नहीं होती।

इन तीनों तन्त्रों में निष्पन्नक्रम भी नहीं होता है, क्योंकि निष्पन्नक्रम का लक्षण पूर्ण होने में केवल तत्त्वार्थ भावना एवं वायुयोग भावना का होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु सभी मूल एवं अङ्ग वायुयोग भावना से सभी मूल एवं अङ्ग वायु की अवधूती में स्थिति, प्रवेश और लय तथा उससे उत्पन्न सुख शून्यता का ज्ञान और उससे उत्पन्न देवकाय की उपलब्धि के लिये असाधारण उपाय, विशिष्ट काय, मर्माहतयोग, इन तीनों में से किसी एक का होना आवश्यक है। तीन निम्न तन्त्रों में शून्यता एवं देवयोग भावना के अतिरिक्त अन्य (वायुयोग आदि भावना) नहीं होती है। स्वपरिपाक करने वाला प्रामाणिक प्रथम क्रम (उत्पत्तिक्रम) भी नहीं होता है। उत्पत्तिक्रम का प्रतिनिधि सनिमित्तयोग तथा निष्पन्नक्रम का प्रतिनिधि अनिमित्तयोग होता है। वैरोचनाभिसम्बोधि (तन्त्र) (तो० 494) में कहा है—

“सनिमित्त का निमित्त सहित (होना) जिन (बुद्ध) का अभिमत है। अनिमित्त में स्थित रहने के कारण, सनिमित्त भी सिद्ध हो सकता है। अतः साधक को सर्वथा अनिमित्त साधना का आश्रय लेना चाहिए”।

यहाँ सनिमित्त योग का शाब्दिक अर्थ है शून्यताज्ञान की बुद्धि से अगृहीत देवकाय आदि के आभास का निमित्त सहित योग करना और अनिमित्तयोग (का अर्थ) है प्रपञ्च निमित्त से रहित शून्यता ज्ञान से गृहीत देवयोग से योग करना, ऐसा कहा गया है। इस स्थिति में प्रश्न होता है—पारमितायान और तीन निम्नतन्त्रों के मार्गों पर आश्रित होकर बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है या नहीं? उत्तर है—वे केवल अपने मार्ग मात्र से बुद्धत्व प्राप्त नहीं कर पाने पर भी बुद्धत्व प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वे अपने-अपने मार्ग से दसवीं भूमि तक पहुँच कर अन्त में अनुत्तर (तन्त्र) का आश्रय लेकर बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। यह अपने मार्ग को बिना त्यागे (अनुत्तरतन्त्र) से उसकी पूर्ति करना मात्र है। अतः उन्हें अपने मार्ग से बुद्धत्व प्राप्त करने वालों में रखना चाहिए। बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए निश्चित रूप से अनुत्तरतन्त्र मार्ग पर निर्भर होना पड़ेगा, इसका अभिप्राय है मुख्य आवरण को दर्शाने पर भी साक्षात् प्रतिपक्ष गुह्य रखा गया है। इसलिए सम्यक् अन्त के परिपूर्ण ज्ञान पर निर्भर होना होता है। वहाँ भी, सूक्ष्म ज्ञेयावरण स्वरूप साधारण आभास के प्रहाण करने के लिए अनुत्तरतन्त्र में वर्णित सहज महासुख के द्वारा तत्त्वार्थ के साक्षात् बोध पर निर्भर होना अनिवार्य होता है। जैसा कि (आचार्य चोंखापा के) पट्ट शिष्य खे-डुब-जे का कहना है—“उन्हें बुद्धत्व प्राप्त करने का नय मात्र दिखलाना पर्याप्त है। (उन्हें) तृतीय एवं चतुर्थ अभिषेक आदि प्रदान करने का क्या प्रयोजन है? केवल पारमितायान के मार्ग से दसवीं भूमि तक गमन करने पर भी अन्ततोगत्वा बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए अनुत्तरतन्त्र के मार्ग में प्रविष्ट होना आवश्यक है, क्योंकि इसमें प्रवेश किये बिना बुद्धत्व प्राप्त करना असम्भव है, ऐसा जानना चाहिए”।

अवयवार्थ—इसके तीन भेद हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र और योगतन्त्र का मार्गक्रम।

क्रियातन्त्र—इसके दो विषय हैं—सजाप ध्यान और जाप निरपेक्ष ध्यान।

सजाप ध्यान—क्रियातन्त्रों के साधकों को चार अंगों वाले जाप से पूर्व किये जाने वाले कर्म इस प्रकार हैं—सर्वप्रथम समयमुद्रा बाँधकर वन्दना, शरणगमन, चित्त रक्षादि और बाह्य स्नान आदि कर्मों को पूर्ण करके पोशाक पहन कर आसन पर बैठने के पश्चात् पूजा अधिष्ठान और स्व एवं स्थान की रक्षा आदि कर्म को परिपूर्ण करना होता है। यह साधक द्वारा स्वयं को देव के रूप में उत्पन्न करने की विधि है। यथा—स्व एवं देवतत्त्व को परमार्थ, निष्प्रपञ्च, अभेद्य रूप में अहंकार करके बिना आभास के शोधित करना परमार्थ देव-भावना है। उससे उत्थित होने पर तत्कालिक इष्टदेव जो भी हो उसी की

मन्त्रध्वनि का घोष शब्ददेव है तथा वही शब्द अक्षर के रूप में आकाश में स्वचित्त चन्द्रमण्डल के ऊपर स्थित होना अक्षर (देव) है। मालामन्त्र सहित चन्द्र से प्रकाश के स्फरण और संहरण के समय देवरूप में भावना करके स्वयं से अभिन्न रूप में अहंकार करना रूपदेव भावना है। मन्त्र मुद्रा द्वारा हृदय, भ्रू, कण्ठ, बाहु और सिर में स्पर्श करके अधिष्ठित करना मुद्रादेव विधि है और उसी उत्पन्न देव का ध्यान तथा समाधि द्वारा भावना करना लक्षण निमित्तदेव कहलाता है। इन छह देवों के माध्यम से उत्पन्न कर भावना करनी चाहिये। ध्यानोत्तर (तो० 808) में कहा है कि—“स्वयं को इस तरह बनाकर, मन्त्र के विज्ञान द्वारा भावना करनी चाहिये”।

बुद्धगुह्य की विदारणी टीका (तो० 2680) में भी कहा है—

“वज्रासन में स्थित होकर, पूजा एवं प्रार्थना पूर्वक षड्देवों की भावना करें। शून्य, शब्द, अक्षर, रूप, मुद्रा और लक्षण (निमित्त) ये छह (देव) हैं।”

वह (क्रियातन्त्र का साधक) जिस आलम्बन पर अवलम्बित होकर जाप करता है, उसकी प्रक्रिया दो प्रकार की है—एक अक्षर के स्वरूप पर अवलम्बित जाप और दूसरा अक्षरनाद पर अवलम्बित जाप।

अक्षर के स्वरूप पर अवलम्बित जाप—स्वयं को देवरूप में अहंकार करना स्व-देव और अपने सामने स्व-सदृश देव की भावना पर-देव है। अपने अभिमुख (देव) के हृदय में चन्द्र का न्यास करना तथा चित्त और चन्द्रमा पर जाप्य मन्त्र का न्यास करना शब्ददेव है। इन चार अङ्गों को परिपूर्ण करते हुए पुरतः स्थापित (देव) काय एवं हृदय के चन्द्र के ऊपर तीन अक्षरों को समवेत आलम्बित कर प्राणायाम साधकर जाप करना चाहिए। श्वास छोड़ते समय स्वयं देव के रूप में भावना कर काय में चित्त स्थित करके पुनः पूर्ववत् वायु को धारण कर जाप करना चाहिए। विक्षेप हटाने के लिए विश्राम करने का आधार स्व को देवकाय के रूप में विचार कर विपाककाय के रूप में भावना करने से विश्राम आदि के (समय) पुरतः (स्थित देव) के हृदय में अक्षर के रूप को अवलम्बित करने की और भी प्रक्रिया है। स्व पुरतः (स्थित) देव हृदय में मन्त्रमाला सहित चन्द्रासन को वायु के भीतर प्रवेश के साथ स्वहृदय में प्रस्फुटित कर उसी पर अवलम्बित होकर श्वास निर्गत न होने तक जाप करना और श्वास छोड़ते समय मन्त्रमाला सहित चन्द्र को वायु के साथ बाहर निकाल कर पुरतः (स्थित) देव के हृदय में स्थित सोचना आदि स्व हृदय अक्षर के स्वरूप पर अवलम्बित जाप के दो प्रकार हैं। ध्यानोत्तर में कहा है—

“शब्द (नाद) एवं चित्त आधार में स्थित है, गुह्यमन्त्र अनक्षर आधार पर स्थित होकर, अखण्डित अंगों से मन्त्र का जाप करें, थकें तो स्व पर विश्राम करें”।

अनक्षर नाद पर अवलम्बित जाप—वहीं (ध्यानोत्तर में) कहा है—

“अनक्षर और अक्षर (वर्ण) से युक्त, आधार में आधृत सदृश स्वमन्त्र हेतु जिसकी परीक्षा करनी है, मन की शुद्धि का चिन्तन करना चाहिए।”

प्रारम्भ में जाप के चारों अंगों की भावना करनी चाहिए। उसके पश्चात् देवकाय, चन्द्र एवं जाप्य मन्त्राक्षर को आलम्बन न कर मन्त्र शब्द के नाद पर अवलम्बित होकर जाप करना चाहिये। वहीं ध्यानोत्तर में भी कहा है—

“पुनः संहरण के द्वारा आकृष्ट कर, प्राण और आयाम से मन को बाँधकर, गुह्यमन्त्र को विद्यामन्त्र से योगकर, मानस जाप प्रारम्भ करना चाहिये। अथवा तथता की विधि द्वारा निःशब्द (अल्प ध्वनि के साथ अस्फुट) जाप भी किया जा सकता है। मन्त्र विद्या में सिद्धि चाहने वालों को दूसरे किसी भी प्रकार का जाप नहीं करना चाहिए।”

उस मन्त्र का जाप भी दूसरों द्वारा पाठ एवं स्वयं द्वारा श्रवण की तरह न हो, अपितु अपने से मन्त्र जाप करते समय मन्त्र निर्गत ध्वनि (नाद) पर आलम्बित होकर, अस्फुट जाप एवं मानस जाप दोनों करने चाहिये। किन्तु प्राणायाम के समय मात्र मानस जाप ही होता है।

अनुत्तरतन्त्र एवं क्रियादि निम्न तन्त्रों में वर्णित प्राणायाम शब्द (नाम) साम्य होने पर भी दोनों के अर्थ समान नहीं है। अनुत्तरतन्त्र में प्राणायाम का अर्थ ललना और रसना का संचार रोकना है। निम्न तन्त्रों में प्राणायाम का अर्थ है विकल्प का वाहक वायु जो चक्षु, श्रोत्र और घ्राण आदि शरीर के रोम कूप से प्रवेश एवं निर्गम करता है, वह प्राण है और आयाम अन्य आलम्बन की स्मृति का विक्षेप है। अतः इन दोनों को संवृत कर श्वास और निःश्वास को रोककर ऊर्ध्वगामी वायु द्वारा सम्पूर्ण शरीर में संचरित वायु और स्वेच्छ इन्द्रियग्राम चित्त को (बाहर) की ओर जो बहने देकर अन्दर की ओर संगृहीत कर आलम्बन पर एकाग्रचित्त होकर समाहित होना प्राणायाम है। यहाँ इन दोनों के प्रयोजन भी भिन्न हैं। जैसे यहाँ स्पर्श एवं दर्शन का निमित्त स्थिर होने के लिए चित्तरूपी अश्व अर्थात् वायु को भीतर ग्रहण कर चित्त को धारण करना है। भावना काल भी यहाँ भिन्न है। यहाँ मुख्यतया सनिमित्त भावना जाप से सम्बद्ध होकर भावना करनी है। यहाँ भावना करने की प्रक्रिया भी भिन्न है। आलोकाभास एवं अहंकार सिद्धि के समय कायमर्म सहित ऊर्ध्व एवं

अधो वायु को नाभि से लाकर अक्रान्त (मर्माहत) कर चित्त को एकाग्र करना है। इस प्रकार यह चित्त में एकाग्रता प्राप्त करने का हेतु होता है।

जाप निरपेक्ष ध्यान—इस ध्यान की दो विधियाँ हैं—एक अग्निस्थ एवं ध्वनिस्थ ध्यान तथा दूसरा ध्वन्यन्त ध्यान।

अग्निस्थ एवं ध्वनिस्थ ध्यान—षड्देव भावना में पारंगत साधक द्वारा अग्निस्थ ध्यान भावना की विधि इस प्रकार है—स्वयं को देव के रूप में भावना करते समय चक्षु आदि अंगों में परमार्थ में बिना अभिनिवेश के साथ निष्प्रपञ्च में प्रतिपादित कर उसे मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त कर उससे उत्पन्न चित्त एवं चैतसिक को स्व (निज चित्त) में संवृत कर उसमें स्थित होकर तथा उससे उत्थित होकर स्वदेव रूप में प्रकाशित स्व-हृदय में प्रभास्वर प्रज्वलित दीप सदृश अग्नि ज्वाला के भीतर (स्थित) स्व-चित्त संसार एवं निर्वाण जो धर्मधातु तत्त्वज्ञान है, उसे जाप्यमान मन्त्र की ध्वनिमाला के रूप में स्थित जानकर (उस) अक्षर नाद को घण्टी के नाद की तरह निरन्तर प्रवाहमान सदृश स्व श्रवण की भान्ति बिना अभिनिवेश के उसमें ध्यान करना चाहिये। ध्यानोत्तर (तो० 808) में कहा गया है—“अविभक्त से उत्पन्न भावों (पदार्थों) को, बुद्धिमान् स्व को संवृत करें। मन्त्री (साधक) अतीत अंग में स्थित, बिना अभिनिवेश के ध्यान करें। ध्वनि (नाद) को माला के साथ जोड़कर, उसे अपरिवर्तित अक्षरों द्वारा पिरोकर घण्टी की ध्वनि की तरह अविच्छिन्न, चित्त में अभिनिवेश के साथ चिन्तन करने पर, अग्नि के भीतर स्थित शान्ति, विशुद्ध अंगों से युक्त शब्द, प्राण एवं आयाम निरुद्ध आत्मा का, निद्रा त्याग कर चिन्तन करें”।

इस समाधि में पारंगतता का प्रमाण साधक को बाह्य रूप में खान-पान का उपभोग न करने पर भी भूख और प्यास का कष्ट न होना और आभ्यन्तर में अग्नि-आलम्बन एवं वायुयोग के प्रभाव से ऊष्म ज्वलित होने से समाधि का स्वयमेव उत्पन्न होना आदि है।

जप आदि को परिपुष्ट करने और चित्त को सुप्रतिष्ठित करने के कारण अग्निस्थ ध्यान को सिद्धि दायक योग कहा जाता है। अग्निस्थ ध्यान में दृढ़ता प्राप्त साधक को ध्वनिस्थ भावना किस प्रकार करनी चाहिए, उसकी विधि भी कही गयी है। यथा देव रूप में प्रकट स्व के हृदय में अत्यन्त सूक्ष्म चन्द्रमण्डल के ऊपर प्रज्वलित अग्नि ज्वाला के

भीतर अपरिवर्तित आश्रय स्व देवकाय सदृश को स्थापित कर अथवा मन्त्राक्षर न्यास कर आलम्बन करें। उसके पश्चात् उस प्रक्रिया को छोड़ कर मन्त्र ध्वनि के घोष (नाद) मात्र पर ध्यान करते हुए निःश्वास के समय स्वयं को देवकाय के रूप में आलम्बन करना होता है। ध्यानोत्तर में भी कहा है—

“ध्वनिस्थ ध्यान की साधना में हृदय में स्थित सूक्ष्म और विमल चन्द्रमण्डल, उसके भीतर अत्यन्त शान्त सुदीप्त अग्नि ज्वाला, उसके अपरिवर्तित आधार को वहाँ स्थापित कर, सुखपूर्वक बैठकर ध्वनि (नाद) का चिन्तन या (उस) अपरिवर्तित (आधार) में अक्षर स्थापित करके ध्वनि (नाद) मात्र का चिन्तन करना चाहिये।”

अग्निस्थ एवं ध्वनिस्थ साधना का भेद इस प्रकार किया जा सकता है। अग्निस्थ में मानसजाप करते हुए ध्वनि घोष पर आलम्बन करते हैं और ध्वनिस्थ में मानसजाप स्वरूप न होकर मात्र मन्त्र घोष का आलम्बन करते हैं। इस साधना में प्रवीणता का प्रमाण मन्त्राक्षर की ध्वनि क्रमशः शम होने पर भी साक्षात् श्रवण करने पर भी अत्यन्त स्पष्टतया एक साथ मन में प्रकट होना है। इस प्रकार सनिमित्त योगों को सम्यक्तया पुनः पुनः भावना के बल से काय, चित्त प्रसन्नबिधि का सुख और शमथ की अनुकूलता और अचल प्रसन्नबिधि आदि क्रमशः उत्पन्न होने से वास्तविक शमथ सिद्ध होता है। चित्त को एकाग्र करने वाली समाधि को सम्यक् रूप से स्व-वश में करने के कारण ध्वनिस्थ ध्यान को योग प्रदाता योग कहा जाता है।

ध्वन्यन्त ध्यान—सनिमित्तयोग में पारंगत व्यक्ति भवमूल छेदक के साक्षात् प्रतिपक्ष ध्वन्यन्त योग की भावना निम्नलिखित प्रकार से करता है—यथा आभास स्वरूप देवकाय आदि समस्त आधार एवं आधेय का स्पष्ट आभास होने पर भी स्वभावतः परमाणु मात्र भी सिद्ध नहीं है, ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा अचल एवं स्पष्ट इन दो विशेषताओं से युक्त होकर शून्यता का निरन्तर परीक्षण एवं स्थापन इन दोनों प्रक्रियाओं से भावनाओं में निपुण होकर उपदेश के अनुरूप भावना करनी है। महामन्त्रक्रम में कहा है—

“ध्वन्यन्त के उपरान्त विपश्यना भावना करनी चाहिये। इस ध्यान में प्रज्ञा से अधिक परीक्षण करने पर पूर्व अवस्था का शमथ पक्ष नष्ट हो जाता है। अतः परीक्षण एवं स्थिति शमथ भावना दोनों को युगनद्ध कर शमथ और विपश्यना उभय समाधियों को एक साथ प्राप्त करना चाहिए।”

सम्यक् प्रकार से निर्लक्षण योग की भावना करने से साधक अपने बल से काय एवं चित्तप्रश्रब्धि का साक्षात् उद्धार करने की क्षमता प्राप्त कर क्रमशः वास्तविक विपश्यना को सिद्ध करता है और यही अवस्था पारंगतता का प्रमाण भी है। इससे शमथ एवं विपश्यना एक साथ प्राप्त होती है। ध्वन्यन्त को मोक्ष प्रदाता योग भी कहा जाता है, क्योंकि (इससे) भवमूल आत्मग्राह का परिच्छेद होता है तथा इस ध्यान के माध्यम से मोक्ष का मार्ग मिलता है। यही एक प्रकार से क्रियातन्त्र की साधना विधि है।

चर्यातन्त्र

चर्यातन्त्र में दो प्रकार की योग विधियाँ हैं—1. सनिमित्तयोग और 2. अनिमित्त-योग।

सनिमित्तयोग—चर्यातन्त्र के साधक द्वारा सनिमित्तयोग की भावना करने की विधि इस प्रकार है। साधक इसकी भावना चार बाह्य अंगों के जाप और चार अन्तः जाप के माध्यम से करता है। चार बाह्य अंगों की जाप भावना की विधि इस प्रकार है—जैसे स्व और भाव्य देव दोनों निःस्वभाव हैं, क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पन्न (होने) के कारण प्रतिबिम्ब के सदृश हैं। इस प्रकार से सोचने से स्व और देव दोनों का निःस्वभाव शून्य से अभिन्न तत्त्व देव की उत्पत्ति करना स्व आत्मा कहलाता है। सामने स्व-सदृश देवकाय की भावना करना पर (अन्य) कहलाता है। उसके चित्त में स्व-चित्त चन्द्रमण्डलाकार भावना करना चित्त है तथा उसके ऊपर जाप्य मन्त्राक्षर का न्यास करना ध्वनिस्थ है। इस प्रकार चार (बाह्य) अंगों की विधि से साधक सनिमित्तयोग की भावना करता है।

चार अन्तः जाप भावना विधि—चारों अक्षरों में से किसी को देव के रूप में उत्पन्न करना स्व तथा उसके हृदय में चन्द्र के ऊपर स्व-सदृश देव की भावना करना पर (अन्य) है। उसके हृदय में स्वचित्त चन्द्रमण्डलाकार भावना करना चित्त है। उसके ऊपर मन्त्राक्षर की भावना ध्वनि है। इस प्रकार चार (अन्तः) अंगों द्वारा प्राणायाम सहित जाप किया जाता है। वैरोचनाभिसम्बोधि (तो० 494) में कहा है—“जैसे अक्षर और अक्षर का योग है, उसी प्रकार आधार से आधेयभूत का अत्यन्त बद्ध चित्त में, एक लाख जाप करना चाहिए। अक्षर बोधिचित्त है, द्वितीय, शब्द (ध्वनि) कहा गया है। आधार तो स्व-देव स्थापन (है), उसे स्वकाय के स्थान में रखना चाहिए। द्वितीय आधेय जो सम्बुद्ध है, जिसे द्विपदों में श्रेष्ठ के रूप में जानना चाहिये। विशुद्ध चन्द्रमण्डल में मन्त्री (साधक) स्थित होकर चिन्तन करें। अक्षरों को क्रमशः उसके मध्य में सुन्यस्त करें। पुनः संहरण वचन

द्वारा पुष्ट करें। प्राण एवं आयाम को विशुद्ध करने का अभ्यास करें। प्राण को वायु कहते हैं, आयाम को स्मृति कहते हैं। इन दोनों को संवरण कर पहले अच्छी तरह से जाप करें।

अनिमित्तयोग—देवकाय आदि पर अवलम्बित शमथ सिद्ध होने पर स्वभावसिद्ध सर्वधर्म शून्यता एकानेक रहितता आदि युक्ति से निर्णीत कर, (इस) अविच्छिन्न स्वभाव में अनिमित्त समाधि की भावना करना है।

योगतन्त्र

योगतन्त्र—इसमें प्रतिपाद्य तीन विषय हैं—1. सनिमित्तयोग, 2. चार अंग मुद्राओं द्वारा मुद्रण एवं 3. अनिमित्तयोग।

सनिमित्तयोग—योगतन्त्र के साधक द्वारा सनिमित्तयोग भावना करने की विधि (इस प्रकार) है—बिना घटाये (कम किये) स्व-सम्पन्न महायोग सहित त्रिसमाधि की भावना करना विस्तृत सेवा योग अर्थात् उत्तम उपासना है, मण्डलराजाग्री आदि का संग्रह करना मध्यम उपासना एवं एकदेव महायोग साधन की भावना संक्षिप्त उपासना है। इनमें से किसी भी साधना के माध्यम से स्थूल देव पर अवलम्बित योग की भावना की जाती है। उत्तर टीका (तो० 2510) में कहा है—“यहाँ उपाय का भेद बतलाया जायेगा, इसमें भी समाधि साक्षात् उपाय होने से”। इस प्रकार वज्रसत्त्व महासाधन (तो० 1680) में भी कहा है—“जिसने आचार्याभिषेक प्राप्त कर लिया है, ऐसा साधक महायोग द्वारा समस्त साधना विधि को पूर्ण कर अनुशीलन करता है।”

चार अंग मुद्राओं द्वारा मुद्रण—मुद्रण का अर्थ है, जिसका उल्लंघन न किया जा सके। अतः देव भावना विधि से अनुल्लंघन के लिए चार मुद्राओं द्वारा मुद्रित होना है। स्वरूपतः मुद्रा के चार भेद हैं, महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा। पुनः शोधनीय आधारमुद्रा में सामान्य कृत्य सहित काय, वाक्, चित्त या राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य ये चार या पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु ये चार धातु हैं। काय महामुद्रा, वाक् धर्ममुद्रा, चित्त समयमुद्रा और कृत्य कर्ममुद्रा इस प्रकार ये शोधक मार्ग मुद्रा हैं। इन चार मार्ग मुद्राओं में भी प्रत्येक में लक्ष्य अर्थमुद्रा, लक्षक बाह्यमुद्रा और लक्ष्यी (लक्षण) आभ्यन्तर मुद्रा तीन-तीन (भेद) हो जाते हैं। महामुद्रा में वैरोचन आदि उन-उन देवों के काय का स्वरूप लक्ष्य अर्थमुद्रा है। उस (देव)काय के अनुकूल किये गये हस्त संस्कार लक्षक बाह्यमुद्रा है, उस (देवकाय के हस्त संस्कार) के समकाल में स्वयं उन वैरोचनादि देवों के स्पष्ट काय का अवलम्बन करना लक्ष्यी आभ्यन्तर मुद्रा है। धर्ममुद्रा में वैरोचन के साठ वाक्घोष अर्थ(मुद्रा) है।

वैरोचन के रूप में भावित (देव के) जिह्वा एवं कण्ठ आदि में अक्षर न्यास बाह्य(मुद्रा) है। उसमें प्रकट वागाक्षर के आकार का चिन्तन करना आभ्यन्तर (मुद्रा) है। समयमुद्रा में—वैरोचन का चित्त निर्विकल्प ज्ञान को आयुधाकार में उदय होते चिन्तन करना अर्थ(मुद्रा) है। उसके अनुकूल हस्त संस्कार बाह्य(मुद्रा) है। उसके समकाल में स्वयं के उस देवरूप में भावित चित्त का ज्ञान निमित्त के आकार के रूप में उदय होते हुए मनन करना आभ्यन्तर (मुद्रा) है। कर्ममुद्रा में वैरोचन की कर्मलीला अर्थ(मुद्रा) है। स्वयं को देवरूप में प्रकट कर रश्मि का स्फरण-संहरण करना बाह्य(मुद्रा) है। उसमें प्रकट होने वाले अनाभोग कर्मलीला का मनन करना आभ्यन्तर मुद्रा है। धर्मकाय, सम्भोगकाय, निर्वाणकाय एवं स्वभावकाय ये चार शोधित फलमुद्रा हैं। जहाँ इन चार मुद्राओं को मुद्रित करना है वहाँ समयसत्त्व उत्पन्न कर (उसमें) ज्ञानसुख प्रवेश कराकर उसमें मुद्रित करना चाहिये। कृत्य सहित साधारण काय, वाक्, चित्त को जिन (तथागत) के काय-वाक्-चित्त एवं कर्म में परिवर्तन करना उसका प्रयोजन है। किस प्रकार मुद्रित करना है उसमें मुद्रा उत्पन्न होने का हेतु, मुद्रित करने की विधि, उसकी सिद्धि का हेतु और अधिकार का हेतु इन चारों के माध्यम से (मुद्रित) की जाती है। इसमें समयमुद्रा की उत्पत्ति का हेतु वज्र संवरण है। उससे वैरोचन के प्रतिज्ञा से बद्ध होकर मन्त्रजाप कर आवाहन, प्रवेश, बन्धन और अधिकार करना एवं स्वयं को ज्ञानसत्त्व से अभिन्नता का अहंकार करना मुद्रण विधि है। तत्काल वैरोचन के चित्तस्वरूप अद्वयज्ञान, उसे चन्द्र के ऊपर पञ्चशूक श्वेत वज्र के आकार वाला भावना कर तीन-तीन बार जाप करना सिद्धि का हेतु है। तत्पश्चात् स्व स्कन्ध आदि को शून्यता रूप में युक्ति द्वारा विश्लेषण कर भावना करना अधिकार का हेतु है। धर्ममुद्रा के उत्पत्ति की हेतु उच्चरित ध्वनि का संस्कार है। उन-उन देवों के कण्ठ में हीः से रक्त अष्टदलपद्म जिह्वा के एक दल जिह्वा रूप उसके ऊपर पञ्चशूक श्वेत वज्र ओष्ठ में सोये हुए चिन्तन कर मुद्रा सहित मन्त्र जपना मुद्रण विधि है। धर्म अक्षरों को वज्रनाभि में परिवृत रूप में अधिमुक्ति करना सिद्धि का हेतु है। गम्भीर एवं स्पष्ट अद्वय स्वभाव वज्र सहित जिह्वाग्र को ऊपर तालु में योजित कर नासिकाग्र में सूक्ष्मता की भावना करना अधिकार का हेतु है।

कर्ममुद्रा की उत्पत्ति का हेतु वज्रमुष्टि है। पूर्वगामी पद्ममुद्रा से उन-उन देवों की आयुध विहीन महामुद्रा को धारण कर स्वयं मन्त्र का जाप कर मुद्रा खोलने पर चुटकी बजाकर कर्म लीला की अधिमुक्ति करना मुद्रण विधि है। देव हृदय में कृत्यानुष्ठान ज्ञान स्वरूप विश्ववज्र की भावना सिद्धि का हेतु है। काय एवं वाक् के सभी प्रकम्पन एवं ध्वनि,

नृत्य तथा गान के द्वारा देव से देव पूजा की अधिमुक्ति करना अधिकार का हेतु है। वज्रमुष्टि तो महामुद्रा की उत्पत्ति का हेतु है। स्वभावतः विराजमान महामुद्रा का धारण करना मुद्रण विधि है। देव हृदय में आद्य पञ्चशूक वज्र की भावना करना सिद्धि का हेतु है। गम्भीर एवं स्पष्ट अद्वय योग की भावना करना अधिकार का हेतु है। इस प्रकार प्रत्येक देव को चार-चार मुद्राओं से मुद्रित करने का कारण अवतार (तो० 2502) में कहा गया है—

“सामान्यतः काय के बिना चित्त सम्भव नहीं है, चित्त एवं काय के बिना वाक् भी सम्भव नहीं है। अत एव प्रत्येक मण्डल में काय आदि चारों की आवश्यकता देखी जाती है। अतः सभी कुल मण्डलों में भी काय आदि लक्षणीभूत चारों को क्रमशः महामुद्रा, समयमुद्रा, धर्ममुद्रा एवं कर्ममुद्रा बतलाया गया है।”

स्थूलयोग में पारंगत साधक को सूक्ष्म आयुध पर अवलम्बित होकर भावना करने की प्रक्रिया इस प्रकार है—नासाग्र पर सूक्ष्म आयुध को प्रकट कर अवलम्बन द्वारा स्मृति एवं सम्प्रजन्य से युक्त पालन में कुशल होकर लय और औद्धत्य से रहित हो पुनः पुनः भावना करने से स्व बल से विशेष प्रसन्निका का आवाहन आदि शमथ समाधि की सिद्धि न होने तक भावना करनी चाहिये। तत्त्वसंग्रह (तो० 479) में कहा है¹—

“जिह्वा को तालु से योग कर, नासाग्र पर चिन्तन कर सुखपूर्वक वज्राग्र स्पर्श से, चित्त समाहित हो जायेगा।”

इसमें स्थिरता प्राप्ति के पश्चात् स्फरण-संहरण विधि भी सूक्ष्म वज्रकाय की भावना के बल से स्थिरता प्राप्त होने पर उससे अनेक सूक्ष्म वज्र प्रस्फुटन विधि से अपने पूरे शरीर में व्याप्त और उससे क्षेत्र धातुओं में तथा तत्पश्चात् त्रिधातु पर्यन्त व्याप्त का स्फरण तथा संहरण करते हुए क्रमशः नासाग्र तक संहरण कर मूलवज्र को भी दाहिनी नासिका से प्रवेश कर हृदय में स्थित करना चाहिये। वहीं (तत्त्वसंग्रह में) कहा है—

“सूक्ष्म वज्र के सुख स्पर्श का, यदि लक्षण उत्पन्न हो तो, उस लक्षण को व्याप्त कर, चित्त को सर्वत्र व्याप्त करना चाहिये। जितने काम (इच्छा) से चित्त व्याप्त होगा, तीनों धातुओं में भी वह उतना ही व्याप्त होगा।”

अनिमित्तयोग—इस प्रकार सनिमित्तयोग में पारंगत होने के उपरान्त भी अनिमित्तयोग का स्वरूप अर्थात् यथावत् एवं यावत् अधिगम वाले विपश्यना ज्ञान के बिना

1. जिह्वां तालुगतां कृत्वा नासिकाग्रं तु चिन्तयेत् ।
सूक्ष्मवज्रसुखस्पर्शाद् भवेच्चित्तं समाहितम् ॥ (तत्त्वसंग्रह, पृ० 42)

संसार से पार होने में असमर्थ होगा। अतः विपश्यना समाधि की आवश्यकता है। अतः यहाँ भी हृदय, मन्त्र, मुद्रा एवं विद्यामन्त्र के अधिकारी विशेष तत्त्वज्ञानी प्रज्ञा विशेष से विचार एवं स्थापन दोनों ध्यानों के द्वारा अच्छी तरह भावना करते हैं। वहीं (तत्त्वसंग्रह में) कहा है—“अकार में प्रवेश होकर, सर्व अक्षरों की विभावना करें, स्वदेव मुख से अन्य देव के मुख में, भावना करने से सिद्धि प्राप्त होगी।”

सामर्थ्य प्राप्त करने के पश्चात् कर्म संचय की साधना विधि—इस प्रकार प्रत्येक तन्त्र के अपने-अपने गम्भीर एवं उदार योग पर आश्रित होकर सुचारु रूप से मन्त्रजाप पूर्ण होने पर सिद्धि की प्राप्ति होती है। सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र (तो० 805) में कहा है—

“यथा पहले विधिवत् एक लाख जाप करें, तत्पश्चात् गुह्य मन्त्र की सिद्धि में प्रवेश करें। इससे शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होगी, गुह्य मन्त्र विधि से दीर्घकाल का क्लेश नहीं होगा।”

ध्यानोत्तर (तो० 808) में कहा है—“अशेष विद्या मन्त्र तत्त्व, आत्म तत्त्व विधि और परम जप तत्त्व का ज्ञान होने पर ही मनुष्य को सिद्धि की प्राप्ति होती है”।

वह भी प्रत्यय द्वारा प्रदर्शित क्रियातन्त्र की सिद्धि में कुलों के अनुसार सिद्धि तीन में विभक्त होते हैं। ये हैं शान्तिक, पौष्टिक एवं रौद्र सिद्धि। स्वभावतः विद्याधर, अभिज्ञा, सर्वज्ञ आदि ये परम सिद्धि कहलाते हैं। अञ्जन, रसायन एवं पादलेप आदि मध्यम सिद्धि हैं तथा वशीकरण, मारण, उच्चाटन आदि अधम सिद्धि हैं। इस प्रकार तीन-तीन सिद्धियाँ हैं। लक्षण के अनुसार चिह्न के माध्यम से द्रव्य ज्वलन, धूम्र-पराग और ऊष्मा उत्तम, मध्यम और अधम तीन सिद्धियाँ हैं। आश्रय (आधार) के अनुसार से कायसिद्धि, द्रव्यसिद्धि एवं संभोगसिद्धि तीन हैं। वक्ता के माध्यम से आर्य, देव और धरित्री मन्त्र तीन सिद्धि हैं। आश्रय (आधार) एवं वक्ता के अनुसार से स्थापित सिद्धियों में पहला उत्तम सिद्धि, मध्य वाला मध्यम सिद्धि एवं अन्तिम अधम सिद्धियाँ हैं। वे सभी सिद्धियाँ साधक द्वारा (मन्त्र जप आदि में) अच्छी तरह उपासना न करने पर सिद्धिदाता श्रेष्ठ होने पर भी सिद्धि प्राप्ति अधम ही होती है। अच्छी तरह उपासना करने पर साधारण सिद्धिदाता होने पर भी अन्य (देव) से प्राप्त कर उत्तम सिद्धि भी प्रदान की जाती है। अतः तत्त्व पर आलम्बित ध्यान उपासना में सुप्रयत्न करना मुख्य अर्थ है। इनकी साधना के लिये चतुरंग जपयोग पूर्ववत् सम्पन्न कर द्रव्य एवं होम आदि के आश्रय से सिद्धि प्राप्त की जाती है।

चर्यातन्त्र के सिद्धान्त में बाह्य द्रव्य पर आश्रित होकर खड्ग, विद्याधर आदि सिद्ध करना होता है और आभ्यन्तर काय के स्थानों में पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायुमण्डल आदि

उत्पन्न कर चार कर्मों की सिद्धि करनी होती है तथा गुह्य में मञ्जुश्री आदि सिद्ध करके बोधिचित्त अविस्मरणीय समाधि प्राप्त करनी होती है।

योगतन्त्र में सूक्ष्म समाधि में स्वाधिकार प्राप्ति से लेकर लौकिक एवं लोकोत्तर समस्त सिद्धियों को ध्यान के द्वारा सिद्ध करना होता है। इसके अतिरिक्त (क्रिया, चर्या में सिद्धियों की प्राप्ति का मुख्य आधार) जप एवं होम पर निर्भर होता है। अतः तीनों निम्न तन्त्रों में प्रथमतः विधिवत् अभिषेक प्राप्त कर रक्षा किये जाने वाले समय एवं संवरों को विशुद्ध कर चार यामों में सलक्षण और निर्लक्षण योग पर आश्रित होकर शक्ति प्राप्त करनी होती है। तत्पश्चात् साधारण एवं असाधारण सिद्धि विशेष को सिद्ध कर मार्ग गमन करना होता है। उसके विपरीत शून्यता एवं देवयोग, वायु और जप आदि एकत्रित करके मार्ग गमन की इच्छा करना तो उपयुक्त नहीं है, ऐसा जान लेना चाहिये। कहा भी है—

तीन विनेयजनों के अधिमुक्ति की अन्तर से
तीन तन्त्रों की तन्त्र व्याख्या के अभिप्रेतार्थ को।
तीन विद्वानों के उपदेश पर आश्रित होकर
तीन सौभाग्य के पोषण हेतु सुभाषित किया।
अत्यन्त विस्तार होने पर अल्प बुद्धि भ्रमित होगी
(अति) संक्षिप्त होने पर परोक्ष प्रदर्शन से अप्रतिम सन्देह ज्वलित होगा
विस्तार एवं संक्षिप्त मुक्त प्रखर बल मुझमें नहीं है।
अतः इस लेखन का भी प्रयोजन अल्प है
अन्धे के हाथ में वस्तु रखने जैसा
जो चित्त में उदय हुआ और आँखों से जो देखा
कुछ स्पष्ट एवं कुछ अस्पष्ट रूप में जो कहा गया है
सभी का हित होगा मन प्रसन्न होगा
यह मध्यान्तर में (रचित) श्लोक है।

[क्रमशः]

बौद्ध एवं बौद्धेतर धर्मों में 'दीक्षा' का स्वरूप (3)

—रञ्जनकुमार शर्मा—

[इससे पूर्व धीः के 36, 37वें अंकों में बौद्ध और जैन सम्प्रदायों में दीक्षा क्रम दे चुके हैं। प्रस्तुत अंक में वैदिक एवं तान्त्रिक दीक्षा के स्वरूप के अन्तर्गत दीक्षा-उपयोगिता, दीक्षा-काल, दीक्षा-अधिकारी, दीक्षा-गुरु तथा दीक्षा-निषेध से सम्बद्ध अंश दिया जा रहा है।]

वैदिकी-दीक्षा (उपनयन संस्कार)

भारतीय परम्परा में दीक्षा दो प्रकार की है—1. वैदिक तथा 2. तान्त्रिक। वैदिक-परम्परा वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार संचालित है। इसमें समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चार वर्णों में बँटा हुआ है। प्रत्येक के लिये गर्भाधान से लेकर श्मशान पर्यन्त सोलह संस्कारों का विधान है। क्योंकि संस्कार होने से ही मनुष्य की सभ्यता का विकास होता है। ये संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिये समन्वक और शूद्र के लिये अमन्वक बताये गये हैं। इनमें सातवाँ संस्कार 'उपनयन-संस्कार' है। इससे पूर्व के छः संस्कार बालक के पिता द्वारा किये जाते हैं। इस संस्कार से बालक को कर्तृत्व प्राप्त होता है और इसी से 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ होता है। क्योंकि इस संस्कार में गुरु बालक को उसकी शिक्षा-दीक्षा के लिये अपने आश्रय में लेते हैं, इसलिए इसे 'उपनयन' (उप=समीपे, नयनं=ग्रहणं) कहते हैं। 'उपनयन-संस्कार' में वेदमाता गायत्री के मन्त्र की दीक्षा दी जाती है। गायत्री ग्रहण के पश्चात् ही वह किसी भी धार्मिक या आध्यात्मिक कृत्य करने का अधिकारी बन सकता है। जैसा कि कहा गया है—

द्विजानामनुपेतानां स्वधर्माध्ययनादिषु ॥
यथाधिकारो नास्तीह सन्ध्योपासनकर्मसु ।
तथा ह्यदीक्षितानां तु मन्त्रतन्त्रार्चनादिषु ॥
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम् ।

—गौतमीयमहातन्त्रम्, 5.2-4

अर्थात् जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विजातियों को 'उपनयन-संस्कार' के विना वेद पढ़ने, सन्ध्या, पूजा, हवन करने का अधिकार नहीं होता, वैसे ही विना दीक्षा लिये किसी भी साधक को तन्त्र की साधना करने का अधिकार नहीं है। इसलिए दीक्षा लेना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थ में भी कहा गया है—

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ॥
न भवन्ति श्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ।

देवीदीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।

—रुद्रयामलतन्त्र (उत्तरतन्त्र), 3.13-15

अर्थात् अदीक्षित व्यक्ति द्वारा किये गये जप, न्यास तथा पूजा आदि पत्थर पर बोये गये बीज के समान निष्फल है। अदीक्षित को न तो सिद्धि प्राप्त होती है और न ही उसकी सद्गति। इसलिए प्रयत्न करके गुरु से दीक्षा लेनी चाहिये।

इस दीक्षा के लिये ब्राह्मण बालक को 8 वर्ष से 16 वर्ष, क्षत्रिय को 11 से 22 वर्ष तथा वैश्य को 12 से 24 वर्ष तक का समय निश्चित है। यदि इस काल में गायत्री-दीक्षा न ली तो वह 'व्रात्य' अर्थात् पतित सावित्रीक कहलाता है और उसे किसी प्रकार के धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं होता। इस कालात्यय के पश्चात् वह गायत्री-दीक्षा लेना चाहता है तो उसे पहले प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

गायत्री मन्त्र की दीक्षा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये अलग-अलग है। ब्राह्मण के लिये विश्वामित्र ऋषि गायत्री छन्द सविता देवता वाला मन्त्र (ऋग्वेद 3/62/10), क्षत्रिय के लिये वृहस्पति ऋषि त्रिष्टुप् छन्द सविता देवता वाला मन्त्र (यजुर्वेद 11/7) तथा वैश्य के लिये श्यावाश्व ऋषि जगती छन्द सविता देवता वाला मन्त्र (यजुः 19/3) गायत्री मन्त्र रूप में प्रयुक्त है। परन्तु कुछ आचार्यों ने माना है कि ब्रह्मगायत्री सभी को दी जा सकती है। अतः प्रायः इसी का प्रयोग होता है। इसकी विधि विस्तृत रूप से अलग-अलग वेदाध्यायियों के लिये संस्कार ग्रन्थों में दी गई है।

इसके बाद अध्ययन समाप्त करके प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक और पारलौकिक सिद्धियों के लिये अपनी कुलपरम्परा या श्रद्धानुसार वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर या गाणपत्य किसी एक सम्प्रदाय की तान्त्रिक दीक्षा लेनी चाहिये।

तान्त्रिक-दीक्षा

दीक्षा के अनेक प्रकार तन्त्रों में वर्णित हैं। उपासना के द्वैविध्य से इसके दो भेद हैं—वैदिक और तान्त्रिक। 'गायत्री मन्त्र' की दीक्षा 'वैदिकी' तथा दस महाविद्याओं में से किसी देवता या आगमिक किसी देवता का मन्त्र ग्रहण करना 'तान्त्रिक' दीक्षा है।

'दीक्षा' वस्तुतः आत्म-संस्कार का दूसरा नाम है। आणव, कर्म तथा मायीय—इन तीन प्रकार के मल या पाशों से संसारी-आत्मा आच्छन्न रहती है। दीक्षा¹ द्वारा इस मल-युक्त आत्मा का संस्कार होता है। तन्त्रालोक के श्लोक (1.43) की विकेक टीका में भी कहा गया है—

1. द्रष्टव्य—आगम और तन्त्रशास्त्र, ले०-पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ० 112

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।

दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान-क्षपण-युक्त क्रिया को 'दीक्षा' कहते हैं ।

दीक्षा के बिना किसी भी व्यक्ति को तन्त्र की साधना का अधिकार नहीं होता और जो व्यक्ति बिना दीक्षा लिये साधना करता है, उसका परिणाम भयंकर होता है । गौतमीयमहातन्त्र में कहा गया है—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रवर्तिकाम् ।

यां बिना नैव सिद्धः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि ॥

तदङ्गं कथितं पूर्वमिदानीं कथ्यते शृणु ।

ददाति दिव्यभावं च क्षिणुयात् पापसंहतिम् ॥

तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः । —7.1.3

अर्थात् 'दीक्षा' से दैवी शक्ति प्राप्त होती है, सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए तन्त्र-पारंगत मुनियों ने इस क्रिया को 'दीक्षा' कहा है । जब तक 'दीक्षा' न ली जाय, तब तक चाहे कोई सौ वर्ष तक भी मन्त्र का जप करता रहे, मन्त्र की सिद्धि नहीं होती ।

और भी—

तत्र दीक्षैव भोगे च मुक्तौ चायात्युपायताम् ॥ —तन्त्रालोक, 15.1

अर्थात् 'दीक्षा' ही भोग और मोक्ष दोनों की उपलब्धि कराती है । यहाँ 'दीक्षा' को ज्ञान से अभिन्न ही माना गया है ।

दीक्षा-उपयोगिता

'दीक्षा' की उपयोगिता के बारे में कहा गया है—

दीक्षया जायते योग्यः त्रैविद्यः देवपूजने ॥

दीक्षितो देवदेवस्य कर्षणादिक्रियां चरेत् ।

नाधिकारी भवेद्यस्तु दीक्षाविरहितो द्विजः ॥

तस्मादर्घ्यार्चनाकाङ्क्षी दीक्षेत हरिसन्निधौ ।

अर्थात् तीनों वेदों का अधिकारी व्यक्ति देवता की पूजा करने का अधिकारी तभी होता है, जब वह 'दीक्षा' ले लेता है। दीक्षित व्यक्ति ही देवता का आवाहन करके उसे बुला सकता है, जिसने 'दीक्षा' नहीं ली, वह अधिकारी नहीं होता। इसलिए पूजा का अधिकार पाने के लिये 'दीक्षा' अवश्य लेनी चाहिये।

और भी—

उपचारसहस्रैस्तु योजितां भक्तिसंयुताम् ।
अदीक्षिताऽर्चनां देवा न गृह्णन्ति कदाचन ॥
कर्माऽखिलं वृथा यस्मात् तस्मात् पशुरदीक्षितः ।

—आगमकल्पद्रुम

अर्थात् हजारों उपचारों से युक्त भक्तिपूर्वक की हुई पूजा को भी देवता कभी ग्रहण नहीं करते, यदि कर्ता ने 'दीक्षा' न ली हो। अदीक्षित व्यक्ति पशु के समान है। उसके किये सम्पूर्ण कर्म व्यर्थ होते हैं।

दीक्षा-काल

नीलतन्त्र के अनुसार—

कृष्णपक्षस्य चाष्टम्यां शुभे लग्ने शुभेऽहनि ।
पूर्वभाद्रपदायुक्ते मित्रतारादिसंयुते ॥
अथवा ह्यनुराधायां रेवत्यां वा प्रशस्यते ।
जानीयाच्छोभनं कालं चन्द्रार्कग्रहणं प्रति ॥
इषे मासि विशेषेण कार्तिके च विशेषतः ।
महाष्टम्यां विशेषेण धर्मकामार्थसिद्धये ॥
रोहिणी श्रवणाद्रा च धनिष्ठा चोत्तरात्रयम् ।
पुष्या शतभिषा चैव दीक्षानक्षत्रमुच्यते ॥

अर्थात् कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि, शुभ लग्न और शुभ दिन में मित्रतारादि युक्त पूर्वभाद्रपद, अनुराधा या रेवती नक्षत्र में, चन्द्रग्रहण के समय, आश्विन या कार्तिक मास में 'दीक्षा' लेना प्रशस्त है। विशेषतः धर्म-अर्थ तथा काम की सिद्धि के लिये महाष्टमी सर्वोत्तम है। दीक्षा-नक्षत्र रोहिणी, श्रवण, आर्द्रा, धनिष्ठा, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, पुष्य और शतभिषा जाने जाते हैं।

दीक्षा-अधिकारी

मोक्षकारिका में कहा गया है—

दीक्षायां साधकत्वे च चतुर्णां वर्णिनामिह ।

अधिकारो गुरुत्वेन ब्राह्मणस्यैव कीर्तितः ॥¹

अर्थात् 'दीक्षा' में साधक के रूप में चारों वर्णों का अधिकार है, किन्तु गुरु के रूप में 'दीक्षा' देने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है।

और भी—

सवर्णाधिकारश्च नारीणां योग्य एव यः । — गौतमीयमहातन्त्र, 1.7

अर्थात् स्त्री तथा शूद्र को भी तन्त्र के मन्त्र ग्रहण करने का अधिकार है।

दीक्षा-गुरु

तन्त्र की दीक्षा किसी ऐसे सिद्ध गुरु से लेनी चाहिये, जिसे स्वयं तन्त्र सिद्ध हो और जिसे दीक्षा देने का अधिकार हो।

दीक्षागुरु में भी सम्प्रदाय भेद से कुछ भेद होता है। जैसा कि कहा गया है—

वैष्णवे वैष्णवो ग्राह्यः शैवे शैवश्च शक्तिके ।

शैवः शाक्तोऽपि सर्वत्र दीक्षास्वामी न संशयः ॥ — रुद्रयामलतन्त्र

अर्थात् वैष्णव के लिये वैष्णव गुरु, शाक्त एवं शैव के लिये शैव गुरु ग्राह्य माने गये हैं तथा शैव एवं शाक्त गुरु सर्वत्र ग्राह्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

और भी—

विष्णुर्विष्णुमतस्थानां सौरः सौरविदां मतः ।

गाणपत्यस्तु देवेशि गणदीक्षा प्रवर्तकः ।

शैवः शाक्तश्च सर्वत्र दीक्षास्वामी न संशयः ॥ — नीलतन्त्र

अर्थात् वैष्णवो के गुरु विष्णुमन्त्रोपासक, सौर के गुरु सौर तथा गाणपत्यों के गुरु गणदीक्षाप्रवर्तक होंगे। शैव और शाक्त सभी के 'दीक्षा-गुरु' हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

1. द्रष्टव्य—अष्टप्रकरणम्-सं०-पण्डितश्रीवज्रवल्लभद्विवेदः, सं० सं० वि० वि०, वाराणसी, पृ० 265

उक्त पाँच सम्प्रदायों में भी विभिन्न देवमूर्तियाँ और असंख्य बीज हैं। उन बीजों के अनुसार ही इष्टदेव की पूजा और ध्यान आदि होते हैं।

शैव-शाक्त तन्त्रों में इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि जिसने एक देवता की दीक्षा ले ली हो तो उसे दूसरे देवता की दीक्षा, विना गुरु की आज्ञा के नहीं लेनी चाहिये।

दीक्षा-निषेध

विभिन्न तन्त्रों में 'दीक्षा' किससे नहीं लेनी चाहिये, इसके बारे में भी बताया गया है। जैसे—

पित्रोर्मन्त्रं न गृह्णीयात् तथा मातामहस्य च ।

सोदरस्य कनिष्ठस्य वैरिपक्षाश्रितस्य च ॥ —योगिनीतन्त्र, षष्ठपटल

अर्थात् माता-पिता, सगे भाई, अपने से छोटी अवस्था वाले तथा अपने शत्रु के किसी सम्बन्धी से कभी दीक्षा नहीं लेनी चाहिये।

और भी—

यतेर्दीक्षा पितुर्दीक्षा दीक्षा च वनवासिनः ।

विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिका ॥ —गणेशविमर्षिणीतन्त्र

अर्थात् किसी संन्यासी, पिता, वनवासी तथा जिसने गृहस्थाश्रम छोड़ दिया हो, उससे कभी दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। इनसे ली हुई 'दीक्षा' कल्याणदायिनी नहीं होती।

और भी—

न पत्नीं दीक्षयेद् भर्ता न पिता दीक्षयेत् सुताम् ।

न पुत्रञ्च तथा भ्राता भ्रातरं नैव दीक्षयेत् ॥

सिद्धमन्त्रो यदि पतिस्तदा पत्नीं स दीक्षयेत् ।

शक्तित्वेन भैरवस्तु न च सा पुत्रिका भवेत् ॥

—रुद्रयामल (उत्तरतन्त्र), 2.87-88

अर्थात् पति, अपनी पत्नी को, पिता, अपनी पुत्री या पुत्र को तथा भाई, अपने भाई को भी 'दीक्षा' नहीं दे सकता। पति, अपनी पत्नी को तभी दीक्षित कर सकता है, जब वह मन्त्रसिद्ध हो और उससे पत्नी रूप में सम्बन्ध नहीं रखे, क्योंकि उसके शक्तित्व के कारण वह कन्या नहीं समझी जाती।

आर्यामोघपाशनामहृदयं महायानसूत्रम्

ĀRYĀMOGHAPĀŚANĀMAHRDAYAM
MAHĀYĀNASŪTRAM

आदर्श प्रति—

क. धारण्यादिसंग्रह (आर्यामोघपाशनामहदयं महायानसूत्रम्)
राष्ट्रीय अभिलेखालय, काठमाण्डू, नेपाल ।

ल० सं० - 3/589

पत्र सं० - 355 (47b-53b)

लिपि - देवनागरी

रील सं० - ए 131/9

भो० तो० सं० - 682

འཕགས་པ་དོན་ཡོད་ཞགས་པའི་སྤྱིང་པོ་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ།

आर्यामोघपाशनामहृदयसूत्रम्

[आर्य अमोघपाश नाम हृदय महायानसूत्र क्रियातन्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि अमोघपाशकल्परजसूत्र एवं अमोघपाश धारणी नाम से जापान से Monumenta Nipponica और Studies of Esoteric Buddhism and Tantrism नामक ग्रन्थ में Koyasan University से प्रकाशित होने की सूचना है। परन्तु वह संस्करण हमें उपलब्ध नहीं हो पाया। ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए हम भोट पाठ की सहायता से सम्पादित कर धीः के पाठकों के लिए प्राकशित कर रहे हैं।]

१ॐ नमः श्रीलोकनाथाय। अमोघपाशाय भगवते नमः।

एवं मया श्रुतमेकस्मिन् समये भगवान् ^२पोतलके पर्वते विहरति स्म।
आर्यावलोकितेश्वरस्य ^३भ(भु)वने अनेक ^४शाल^५तालतमालचम्पकाशोकाति-
मुक्तकनानारत्नवृक्षसमलङ्कृते महता भिक्षुसङ्घेन सार्द्धमष्टादशभिर्भिक्षुसहस्रैः
नवनवतिभिश्च बोधिसत्त्वकोटिनियुतशतसहस्रैः अनेकैश्च शुद्धावासकायिकैर्देव-
पुत्रकोटिनियुतशतसहस्रैः परिवृतः पुरस्कृत ईश्वरो महेश्वर-ब्रह्मकायिकदेवपुत्रान्
अधिकृत्य धर्मं देशयति स्म।

अथ खलु आर्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो महासत्त्व उत्थायासनादेकां-
समुत्तरासंगं कृत्वा दक्षिणजानुमण्डलं पृथिव्यां प्रतिष्ठाप्य येन भगवांस्तेनाञ्जलिं
कृत्वा प्रणम्य प्रहसितवदनो भूत्वा भगवन्तमेतदवोचत्। अस्ति मम भगवन्
अमोघपाशराजं नाम हृदयं यन्मया पूर्वमेकनवतिकल्पविलोकितायां लोकधातौ
लोकेन्द्र^६राजतथागतस्य ^७अर्हत्सम्यक्सम्बुद्धस्य सकाशादुद्ग्रहीतं येन भगवन्

१. नमो आर्यामोघपाशाय। नमो बुद्धाय। नमो महाकारुणिकाय-भो०
२. पोतल-क.
३. षड्भ-भो०।
४. समल-भो०
५. ताल-नास्ति भो०
६. राजस्य-क.
७. 'अर्हत्सम्बुद्धस्य'-नास्ति क.

ईश्वरो ¹महेश्वरदेवपुत्रप्रमुखानि बहूनि शुद्धावासिकायिकदेवपुत्रप्रमुखान्यनेक-
देवपुत्रशतसहस्राणि समादापितान्यनुत्तरायां सम्यक्सम्बोधौ। ²असंमोहज्ञानव्यूह-
प्रमुखानि च मया दशसमाधिशतसहस्राणि प्रतिलब्धानि। यस्मिंश्च पुनर्भग-
वन्पृथिवीप्रदेशे इदममोघपाशहृदयं प्रचरेत्। वेदितव्यं भगवन् तस्मिन् पृथिवीप्रदेशे
ईश्वर-महेश्वर-ब्रह्मकायिक-प्रमुखानि द्वादशदेवपुत्रशतसहस्राणि रक्षावरणगुप्तये
स्थास्यन्ति। चैत्यसम्मतो भगवन् पृथिवीप्रदेशो भविष्यति यत्रेदममोघपाशहृदयं
प्रचरिष्यति। अनेकबुद्धकोटिनियुतशतसहस्रावरोपितकुशलमूलास्ते भगवन् सत्त्वा
भविष्यन्ति, य इदं अमोघपाशहृदयं श्रोष्यन्ति। यः कश्चिद् भगवन् किल्बिषकारी
स्यात् सर्वपापा³स्पदः पापधर्मसमाचारी आर्यापवादकः सद्धर्मप्रतिक्षेपकः
अवीचिपरायणः सर्वबुद्धबोधिसत्त्वार्थश्रावकप्रत्येकबुद्धप्रतिक्षेपकः स चेद्
विप्रतिसारं गच्छेदायत्यं सम्बरमापद्यते।

तस्यैव तावद्भगवन् उपवास⁴जापेन [इ]हैव जन्मनि तत्कर्म विशुद्ध्यति
परिक्षयं गच्छति निर्वर्तितं भवति। एकाहिकेन ज्वरेण द्वाहिकेन त्र्याहिकेन वा
चातुर्थिकेन वा ज्वरेण एवं ⁵सप्ताहिकेन [वा] ज्वरेण। अक्षिशूलेन वा दन्तशूलेन
वा कर्णशूलेन वा नासाशूलेन वा दन्तोष्ठशूलेन वा जिह्वाशूलेन वा तालुशूलेन वा
हृदयशूलेन वा उदरशूलेन वा पार्श्वशूलेन वा कटिशूलेन वा अङ्गशूलेन वा
प्रत्यङ्गशूलेन वा अर्शग्रहणीशूलेन वा अतिसारेण वा हस्तपादवे[दनया] वा
शिरोरुजा वा बलाहकचित्रकुष्ठविचर्चिकाकिटिभभगंदरलोहलिङ्गगलग्रह-
विस्फोटकापस्मारकाखोर्दाख्यैर्वा ⁶कृतापकृत्यै⁷मार्णबन्धनताडनतर्जन⁸भूताख्या-

1. महेश्वर-नास्ति क.
2. अमोघपाशज्ञान-भो०
3. श्लेषा'सर्व'श्लेष'सु'स' -भो०
4. कायेन-क.
5. "सप्ताहिकेन.....प्रत्यङ्गशूलेन वा"-नास्ति भो०।
6. कृतापकृत्यैः-नास्ति भो०
7. बन्ध-क.
8. श्लेष'सर्व'सर्व'सर्व'सर्व' -भो०

नैर्वा । संक्षेपतो भगवन् कायपीडया वा ¹चित्तपीडया वा दुस्वप्नदर्शनेन वा तत्कर्म
परिक्षयं गच्छति । पर्यवदानं गच्छति । प्रागेव शुद्धसत्त्वानां श्रद्धाधिमुक्तिकानां यदि
भ[ग]वन् चतस्रः पार्षद(परिषदः) ²चत्वारो वर्णः माया इमध्यनापि(?)य इदं
मदीयममोघपाशहृदयं श्रोष्यति उद्ग्रहीष्यति, धारयिष्यति वाचयिष्यति लिखिष्यति
लिखापयिष्यति पर्यवाप्स्यति अन्येषां च सत्त्वानां श्रावयिष्यति अन्तस्तिर्यग्योनि-
निर्गता(गता)नां वा सत्त्वानां कर्णपुटे स्थित्वा कर्णजापं दास्यति । इमानि च
मन्त्रपदानि चिन्तयिष्यति । अप्रतिक्षेपतः अरूपतः अविकल्पतः असंप्रभवतः
³अचिरमगमतः ⁴अकरणतः निःक्लेशतः समचित्तनिक्षेपतः विरहितपञ्चस्कन्धः ।
अनेन योगेन बुद्धानुस्मृतिर्भावयितव्या । तदेषां दशभ्यो दिग्भ्यो बुद्धसहस्रं संमुखं
दर्शनं करिष्यन्ति । अत्ययदेशनां च करिष्यति । पेयालम् । यावत् पुस्तकलिखितं
कृत्वा गृहे स्थापयिष्यति । किं बहुना भगवन्नन्योन्यस्पर्द्धया वा श्रोष्यति ।
स्वामिभयेन वा परानुवृत्त्या वा उच्चघनहेतुना वा श्रोष्यन्ति । ज्ञातव्यं भगवन्
पण्डितेनार्यावलोकितेश्वरस्यानुभावेन तेषां कर्णपुटे ⁵स्थित्वा स शब्दो
⁶नपतिष्यति ।

तद्यथापि [नाम] भगवन् कश्चिद्देवपुरुषश्चन्दनं वा कर्पूरं वा ⁷केसरं वा
कस्तूरिकां वा आकृष्य परिभाष्य शिलायां वा ⁸भूमौ वा पिष्ट्वा आत्मानं लेपयेत् ।
न च तस्य चन्दनस्य कर्पूरस्य केसरस्य कस्तूरिकायाश्चैवं भवति अनेनाहमाकृष्टः
परिभाषितो वा गन्धेनातिक्रमिष्यति (ष्यामिति) । अपि च सुगन्ध एव सः । एवमेव
भगवन्निदं मदीयममोघपाशहृदयं यः कश्चि⁹दुच्चघन वा उल्लाप्य । पेयालम् ।

1. वाक्चित्त०-क.

2. दैर्घ्यस्य बन्धेऽस्य हेतुः श्लेष्मन्तुः सन्ध्याः स्यात् ५८ गार्ग्यस्य गृह्यसूत्रे ५८-५९-६०-भो०

3. युक्तेऽस्मिन् अनुवृत्त्याः स्यात् (चिरमौमतः)-भो०

4. श्रुतेऽस्य (निर्मायातः)-भो०

5. स्थित्वा-नास्ति भो०

6. श्रावयिष्यति-भो०

7. केसरं वा-नास्ति क., गृहीतस्तु भोटानुसारि ।

8. भूमौ वा-नास्ति-क. गृहीतस्तु भोटानुसारि ।

9. उच्चघन-भो०

दृष्टिर्भविष्यति। न हस्तविक्षेपं करिष्यति। ¹न पादविक्षेपं नोच्चारं न प्रस्त्रावं न चारूढः कालं करिष्यति। सूपस्थित(सुप्रतिष्ठित)स्मृतिर्भविष्यति। नाधोमुखः कालं करिष्यति। मरणकाले[ऽ]²क्षयप्रतिभानं चास्य भविष्यति। यत्र [यत्र] चास्य बुद्धक्षेत्रे प्रणिधिस्[तत्र] तत्रोपपत्तिर्भविष्यति। अविरहितश्च भविष्यति कल्याण-
मित्रैः। दिने दिने त्रिकालं त्रीणिवारान् परि(आ)वर्तयितव्यम्। मद्यमांसपलाण्डु-
गृञ्जनकलशुनशंकारकृतोच्छिष्टविशेषार्थिनो ह्येतद्वर्ज्यः। अयं चामोघपाशहृदयं
[नाम] धर्मपर्यायः सर्वसत्त्वानां बलाबलं ज्ञात्वा श्रोषयितव्यः। आचार्यमुष्टिर्न
कर्तव्या। यस्माद्वि(द्धि)गते मलमात्सर्यैर्ध्यापगता बोधिसत्त्वा भवन्ति। सत्त्वा-
नामर्थकरणेन बोधिः प्राप्यते बोधिसत्त्वानां गणनांश्च गच्छन्ति। बोधिरित्युच्यते प्रज्ञा
सत्त्व उपायः। एतौ द्वौ धर्मौ सत्त्वानामर्थकरणेनैव प्राप्येते। स चेन्मे भगवन्न³नु-
जानीयाद् यन्वहमिमं हृदयं तथागतस्य पुरतः कीर्तये चतसृणां पर्षदामर्थाय हिताय
सुखायान्येषां च पापकारिणाम्।

अथ खलु भगवानार्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वं महासत्त्वमेतदवोचत्।
भाषस्व शुद्धसत्त्वाय यस्येदानीं कालं मन्यसे। अनुमोदितं तथागत(तेन)
पश्चिमकाले पश्चिमसमये बोधिसत्त्वयानिकानां पितृकार्यं करिष्यति।

अथ खलु आर्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो ⁴महासत्त्वोऽनिमिषनयनो भूत्वा
भगवन्तमेतदवोचत्। शृणु मे भगवन् सर्वबुद्धबोधिसत्त्वनमस्कृतमिदं विमोक्ष-
मुखमण्डलं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय महतो जनकायस्यार्थाय
हिताय सुखाय [विमोक्षार्थाय]। ⁵नमस्त्र्यध्वानुगतप्रतिष्ठितेभ्यः ⁶सर्वबुद्धबोधि-
सत्त्वेभ्यः। नमः प्रत्येकबुद्धार्यश्रावकसंघेभ्योऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नेभ्यः। नमस्सम्य-

1. བཤད་པ་མེད་དོ། གཅི་པ་མེད་དོ། རྒྱུད་གི་རྩམ་པ་མེད་དོ། (न विण् न मूत्रं न वायो रूपम्)-भो०

2. རྩོམ་མེད་པ་མེད་པར་རབ་ཏུ་བཤེད་པར་འགྱུར་དོ། (निष्कलेशतः प्रवाची)-भो०

3. ཇེས་སུ་ལྷོས་ཞིང་། (अनुजयन्)-भो०

4. महासत्त्वो-नास्ति क.

5. इतः पूर्वं 'ॐ'-क.

6. इतः पूर्वः 'ॐ'-क.

गतानाम्। नमः सम्यक्¹प्रतिपन्नानाम्। नमः शारद्वतीपुत्राय ²महामतये। नमः
 आर्यमैत्रेयप्रमुखेभ्यो महाबोधि³सत्त्वसंघेभ्यः। नमः सुप्रतिष्ठितशैलेन्द्रराजप्रमुखेभ्यः
 तथागतेभ्योऽर्हद्भ्यः सम्यक्सम्बुद्धेभ्यो भगवद्भ्यः। नमः सुवर्णवर्णसुप्रतिभास-
 विनर्तितेश्वरराजाय तथागताय। नमः सिंहविक्रीडितराजाय तथागताय। नमो
⁴अमिताभाय तथागताय। नमः ⁵सुप्रतिष्ठितमणिकूटराजाय तथागताय। नमः
 समन्तरश्म्युद्गतश्रीकूटराजाय तथागताय। नमो विपश्यने तथागताय। नमः
 शिखिने तथागताय। नमो ⁶विश्वभुवे तथागताय। नमः क्रकुच्छन्दाय तथागताय।
 नमः कनकमुनये तथागताय। नमः काश्यपाय तथागताय। नमः शाक्यमुनये
 तथागतायाऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय। तद्यथा—

ॐ मुने मुने महामुनये स्वाहा। ॐ शमे शमे महाशमे रक्ष रक्ष मां
⁷सर्वसत्त्वांश्च सर्वपापं प्रशमने स्वाहा। नमो सुपरिकीर्तितनामधेयाय तथागताय।
 नमः समन्तावभासविजितसंग्रामश्रिये तथागताय। नम इन्द्रकेतुध्वजश्रिये
 तथागताय। नमो रत्नप्रभासेश्वरराजाय तथागताय। नमोऽप्रतिहतभैषज्यराजाय
 तथागताय। नमो विक्रान्तगामिने तथागताय। नमो बुद्धाय। नमो धर्माय। नमः
 संघाय। नमोऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नेभ्यो बुद्धेभ्यो भगवद्भ्यः। तद्यथा—

स्मृतिबद्धनि मतिबद्धनि गतिबद्धनि धृतिबद्धनि प्रज्ञाबद्धनि प्रतिभानबद्धनि
 ध्यानबद्धनि ⁸समाधिबद्धनि ⁹शमथबद्धनि ¹⁰विपश्यनाबद्धनि। सर्वबोधिपक्ष-
 धर्मबद्धनि सकलबुद्धधर्मपरिपूर्णाय स्वाहा। नमो रत्नत्रयाय। नम आर्यावलोकिते-
 श्वराय बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय। नमो महास्थामप्राप्ताय

-
1. प्रत्युत्पन्नानाम्-भो०
 2. महादानपतये-क.
 3. सत्त्वेभ्यः-क.
 4. आर्यामिताभाय-क.
 5. सुप्रतिष्ठिते-भो०
 6. विश्वभुजे-भो०
 7. सर्वसत्त्वानां च-क.
 8. समाधिबद्धनि-नास्ति क.
 9. सामर्थ्यबद्धनि-क.
 10. विपश्यनाबद्धनि-नास्ति क.

बोधिसत्त्वाय महासत्त्वाय महाकारुणिकाय । एभ्यो नमस्कृत्वा इदमार्या-
वलोकितेश्वरमुखोद्गीर्णम् अमोघपाश[राजनाम] हृदयं तथागतसंमुखं भाषितं
१महत्पर्षन्मध्येऽहमिदानीमावर्त^२यिष्यामि(यिष्ये) । सिध्यन्तु मे मन्त्रपदाः सर्व-
कार्याणि सर्वभयेभ्यो मम सर्वसत्त्वानां च रक्षा भवतु । तद्यथा—

ॐ चर चर चिरि चिरि चुरु चुरु मर मर मिरि मिरि मुरु मुरु
महाकारुणिक^३ । सर सर सिरि सिरि सुरु सुरु चुरु चुरु चिरि चिरि^४विरि विरि
मिरि मिरि महापद्महस्त^५ । कल कल किलि किलि कुलु कुलु महाशुद्धसत्त्व^६ ।
बुध्य बुध्य बोध बोध^७बोधि बोधि बोधय बोधय कण कण किणि किणि कुणु
कुणु^८परमशुद्धसत्त्व^९ । कर कर किरि किरि कुरु कुरु महास्थामप्राप्त^{१०} । चल
चल संचल संचल विचल विचल^{११}प्रचल प्रचल एटट एटट भर भर भिरि भिरि
भुरु भुरु तर तर तिरि तिरि तुरु तुरु एह्येहि महाकारुणिक^{१२} ।
महापशुपतिवेशधर । धर धर धिरि धिरि धुरु धुरु तर तर सर सर चर चर पर पर
वर वर मर मर लर लर हर हर^{१३}हाहा हीही हूहू ॐकार[ब्रह्म]वेशधर । धर
धर धिरि धिरि धुरु धुरु तर तर सर सर चर चर^{१४}नर नर वर वर हर हर
रश्मिशतसहस्रप्रतिमण्डितशरीर ज्वल ज्वल तप तप^{१५}भास भास भ्रम भ्रम

-
1. महतां-भो०
 2. ०यिष्ये-क.
 3. ०कारुणिकाय स्वाहा । संशोधनमन्त्रः । ॐ-इत्यधिकम्-क.
 4. मिलि मिलि मिनि मिनि-क.
 5. ०हस्ताय स्वाहा । विघ्नोत्सारणमन्त्रः । ॐ-इत्यधिकम्-क.
 6. ०सत्त्वाय स्वाहा । देवतासंशोधनमन्त्रः । ॐ-इत्यधिकम्-क.
 7. बोधि बोधि-नास्ति क.
 8. महापरमशुद्ध०-क.
 9. ०सत्त्वाय स्वाहा । तथागतमन्त्रः । ॐ-इत्यधिकम्-क.
 10. ०प्राप्ताय स्वाहा । निवेशमन्त्रः । ॐ-इत्यधिकम्-क.
 11. प्रचल प्रचल-नास्ति क.
 12. ०स्वाहा । आकर्षणमन्त्रः - इत्यधिकम्-क.
 13. इहा हिही हुहू-क.
 14. पर पर-क.
 15. भाष भाष-भो०

भगवन् सोमादित्ययमवरुणकुबेरब्रह्मेन्द्रवाय्वग्निधनदऋषिदेवगणाभ्यर्चितचरण¹ ।
 सुरु सुरु ²चुरु चुरु मुरु मुरु घुरु घुरु सनत्कुमाररुद्रवासवविष्णुधन-
 दवाय्वग्निऋषिनायक-³विनायकबहुविविधवेशधर⁴ । धर धर धिरि धिरि धुरु धुरु
 तर तर थर थर घर घर पर पर लर लर हर हर यर यर सर सर बर बर
 वरदायक⁵ । समन्तावलोकितविलोकितलोकेश्वरमहेश्वरत्रिभुवनेश्वरसर्वगुणसमा-
 लङ्कृतावलोकितेश्वर मुहु मुहु ⁶मुरु मुरु मुय मुय मुञ्च मुञ्च रक्ष रक्ष मां
 सर्व⁷सत्त्वांश्च सर्वभयेभ्यः सर्वोपद्रवेभ्यः ⁸सर्वोपसर्गेभ्यः सर्वग्रहेभ्यः सर्वव्याधिभ्यः
 सर्वविषेभ्यः सर्वज्वरेभ्यः । एवं बन्ध बन्ध ताडन⁹तर्जनराजतस्कराग्न्युदकविष-
 शस्त्रपरिमोचक¹⁰ । कण कण किणि किणि कुणु कुणु ¹¹चर चर चिरि चिरि
¹²चुरु चुरु इन्द्रियबलबोध्यंगचतुरार्यसत्यसंप्रकाशक । ¹³तप तप तम तम दम दम
¹⁴शम शम ¹⁵मस मस धम धम महाकारुणिक महातमोन्धकारविधमन
 षट्पारमितापरिपूरक । मल मल मिलि मिलि मुलु मुलु टट टट ठठ ठठ टिटि
 टिटि ठिठि ठिठि टुटु टुटु टुटु टुटु एण्येयचर्मकृत्परिकर एह्येहि महाकारुणिक ।
 ईश्वर-महेश्वरमहाभूतगणसंभञ्जक । कर कर किरि किरि कुरु कुरु ¹⁶पर पर हर

1. इतः परम् 'स्वाहा । अर्घासनस्नानमंत्राद्यलंकारगन्धपुष्पधूपछत्रध्वजपताकावलीदीपमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
2. चुलु चुलु मुलु मुलु-भो०
3. विनायक-नास्ति-क.
4. इतः परम्-'देवतालक्षणमन्त्रः।' इत्यधिकम्-क.
5. ०वरदाय स्वाहा । साधकस्य निवेशनमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
6. मुलु मुलु-क.
7. ०सत्त्वानां च-क.
8. सर्वोपसर्गेभ्यः-नास्ति क.
9. तर्जन-नास्ति क.
10. इतः परम्-स्वाहा-क.
11. चल चल चिलि चिलि-क.
12. चुरु चुरु-नास्ति क.
13. तप तप-नास्ति क.
14. सम सम-क.
15. द्रम द्रम-क.
16. धर धर-क.

हर वर वर सर सर ¹मर मर कर कर कट कट किटि किटि कुटु कुटु मट मट
महाविशुद्धविषयनिवासिन महाकारुणिक²। श्वेतयज्ञोपवीतरत्नमुकुटमालाधर-
सर्वज्ञशिरसि कृतजटामुकुटमहाऽद्भुतकमलालङ्कृतकरतलध्यानसमाधिविमोक्षा-
प्रकम्प्य बहुसत्त्वसंततिपरि³पालकमहाकारुणिक सर्वकर्मावरणविशोधक
सर्वज्ञज्ञानपरिपूरक सर्वव्याधि⁴विमोचक सर्वसत्त्वाशापरिपूरकसर्वसत्त्वसमा-
श्वासनकर नमोऽस्तु ते स्वाहा। अमोघाय स्वाहा। अमोघपाशाय स्वाहा⁵।
अजिताय स्वाहा। अपराजिताय स्वाहा। अमिताभाय स्वाहा। अमिताभसुताय
स्वाहा। मारसैन्यप्रमर्दनाय स्वाहा। ⁶अभयाय अभयप्रदाय स्वाहा। जयाय स्वाहा।
विजयाय स्वाहा। जयविजयाय स्वाहा। वरदाय स्वाहा। वरप्रदाय स्वाहा।
अकालमृत्युप्रशमनाय स्वाहा। इदं च मे कर्म कुरु नमोऽस्तु ते स्वाहा⁷। ॐ रण
रण हूँ फट् स्वाहा। ॐ जय हूँ फट् स्वाहा। ⁸ॐ ज्र जिं जुं स्वाहा। ⁹ॐ हूँ
जय स्वाहा। ॐ ह्रीः त्रैलोक्यविजयामोघपाशाप्रतिहत ह्रीः हः हूँ फट् स्वाहा¹⁰।
ॐ ¹¹वसुमति स्वाहा। ॐ आरोलिक् स्वाहा। ॐ बहुले बहुले स्वाहा। ॐ
आरोलिक् ह्रीः ह्रीः हूँ फट् स्वाहा। नियतानियतवेदनीयाशुभस्य मे भगवन्
कर्मणोऽशेषतः ¹²परिक्षयं कुरु स्वाहा। ॐ पद्महस्ताय स्वाहा। ॐ
बुद्धधर्मसंघाय स्वाहा। पठितसिद्धस्यास्य ¹³मन्त्रस्य कर्माणि भवन्ति।

-
1. मर मर-नास्ति क.
 2. इतः परं 'सप्तपरिवारमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
 3. पाचक-भो०
 4. परिमोचक-भो०
 5. इतः परं 'हासमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
 6. अभयाय-नास्ति क.
 7. इतः परं 'हृदयमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
 8. ॐ पूजिताय हूँ फट् स्वाहा-क.
 9. ॐ जय हूँ फट् स्वाहा-क.
 10. इतः परं 'उपहृदयमन्त्रः' इत्यधिकम्-क.
 11. वसुपति-भो०
 12. क्षयं-भो०
 13. सर्वस्य-भो०

त्रिकालजापेन पञ्चानन्तर्याणि शोधयति । सर्वकर्मावरणानि विशुद्धिं च ¹करोति । अगरुधूपेन सीमाबन्धः भस्मोदकेन सर्षपखदिरकीलकाद्यैः सर्वज्वरेषु सूत्रकं बन्धयितव्यम् । सर्वव्याधिषु घृततैलमुदकं वा परिजप्य दातव्यम् । काखोर्दच्छेदनं शस्त्रेण रक्षासूत्रकं च । उदरशूलेन लवणोदकं ²विषनाशनं मृत्तिकया ³उदकेन वा । चक्षुरोगेण श्वेतसूत्रकं कर्णे बन्धयितव्यम् । दन्तशूलेन करवीरदन्तकाष्ठकम् । सीमाबन्धं पञ्चरङ्गिकसूत्रमेकविंशतिवारान् परिजप्य चतुर्षु खदिरकीलकेषु बद्ध्वा चतुर्दिशं निखातव्यं सीमाबन्धो भविष्यति । सर्वरक्षासूत्रकेनोदकेन भस्मेन वा । सर्वग्रहेषु पञ्चरङ्गिकसूत्रकम् । सर्वज्वरेषु श्वेतसूत्रकं सर्पकीटाः लूतलोहलिंग-गलग्रहेषु मधुपिप्पलीयुतम् । चक्षुरोगे गन्धोदकपलाशोदकं मधुयष्ट्युदकं वा सर्वकलिकलहविवादेभ्यः अभ्याख्यानेषूदकं परिजप्य मुखं प्रक्षालयितव्यम् । परविषयराज्योपद्रवराष्ट्रकेषु पूर्णकलशं स्थापयित्वा शुचिना शुचिवस्त्रप्रावृतेन महतीं पूजां कृत्वा वाचयितव्यं महाशान्तिर्भवति । तेन चोदकेन ⁴सेक्तव्यं सर्वसत्त्वानां रक्षा कृता भवति । सर्वेत्युपद्रवोपसर्गाः प्रशाम्यन्ति । मुद्रितां चन्दनतिलकं ⁵हृदये एकविंशतिवारान् परिजप्य कर्तव्यं सर्वानन्तर्याणि क्षयं यान्ति । सततजापेन गृहरक्षा । पद्महोमेन सर्वसत्त्वरक्षा । चन्दनहोमेन सर्वग्रहभूत-⁶नक्षत्ररक्षा । जया-विजया-अपराजिता ⁷नाकुली गन्धनाकुली ⁸ध(धा)रणी अभयपाणि इन्द्रियपाणिगन्धप्रियंगुतगरचक्रा महाचक्रा ⁹विक्रान्तासोमराजी सुनन्दा चेति । यथा सम्भवत अष्टोत्तरशतवारान् परिजप्य मणिं कृत्वा शिरसि बाहौ वा धारयितव्यम् । बालानां गले नारीणां विलग्ने स्वयं परं सौभाग्यकरम् ।

-
1. शोधयति-क., विशुद्ध्यति-भो०
 2. 'विष'-नास्ति-भो०
 3. उदरेण-क.
 4. गर्दभ-स-सु-द-स (प्रक्षेपयित्वा)-भो०
 5. 'हृदये'-नास्ति भो०
 6. 'नक्षत्र'-नास्ति क.
 7. नगुली-भो०
 8. चारुणी-क.
 9. विष्णुक्रान्ता-क.

अलक्ष्मीप्रशमनं पुत्रदं च । एतेन मणिना बद्धेन सर्वरक्षा कृता भवति । विषाग्निना [न] क्रमति विषकृतं नोत्पद्यते । उत्पन्नाऽपि न पीडां जनयिष्यति शीघ्रं प्रशमिष्यन्ति । ग्रहान् प्रश[म]यिष्यति वातमेघाशनिस्तम्भनं वारिणा करवीरलतया सर्वकर्मकरम् । आर्यावलोकितेश्वरहृदयं परमसिद्धमसाधितमेतेतानि (मनेनेतानि) कर्माणि कुरुते । अथ साधयितुमिच्छन् विधिः पटेऽशेषकैर्वर्णकैः बुद्धप्रतिमा-लिख्यार्यावलोकितेश्वरो जटामुकुटधारी एण्यचर्मकृतपरिवासा पशुपतिवेशधरः सर्वालङ्कारभूषितं कृत्वा पोषधिकेन चित्रकरेण चित्रापयितव्यः । ततः साधकेन तस्याग्रतोऽपतितगोमयेन मण्डलं कृत्वा श्वेतपुष्पावकीर्णमष्टौ गन्धोदकपूर्णकुम्भाः स्थापयितव्याः । अष्टावुपहाराश्चतुषष्टिरुपकरणानि । बलिमांसरुधिरवर्जितः अगरुधूपं दहता विद्याष्टसहस्रजापयितव्या । अहोरात्रोषितेन वा त्रिरात्रोषितेन वा त्रिशुक्लभोजिता वा त्रिकालस्नापयिता शुचिवस्त्रप्रावृतो भूत्वा जापो दातव्यः । ततः प्रतिमाया अग्रतः आत्मानं च ¹लिखितं पश्यति तं दृष्ट्वा च प्रहृष्यति यावत्स्वयमेवार्यावलोकितेश्वर आगच्छति । सर्वाशाः परिपूरयति । मनःशिलाञ्जनं वा परिजप्य अक्षिण्यञ्जयित्वा ततोऽन्तर्हितो भवति । आकाशे क्रामति । असंमोह-ज्ञानव्यूहनाम समाधिं प्रतिलभते । यदिच्छति तत्करोत्येव साधक इति ।

इदमवोचद्भगवानात्तमना आर्यावलोकितेश्वरो बोधिसत्त्वो महासत्त्वस्ते च भिक्षवस्ते च बोधिसत्त्वास्ते शुद्धावासकायिका देवपुत्राः सदेवमानुषासुरगन्धर्वश्च लोको भगवतो भाषितमभ्यनन्दन्निति ।

॥ आर्यामोघपाशनामहृदयं महायानसूत्रं समाप्तम् ॥

•

ABSTRACT OF ARTICLES

Stotra

1-4

The stotra named Mahāvajradharanāmāṣṭottaraśatādhyeṣaṇā, from the first section of *Sarvatathāgatātattvasaṃgraha* named Vajradhātumahāmaṇḍalavidhivistara (p.18-19), and Sarvatathāgatādhyeṣaṇā from the 18th section of *Guhyasamājatantra*, have been extracted and presented here.

Rahasye Parame Ramye

5-8

In the 37th issue, the explanation of this fragment given by the commentators of Cakrasaṃvaratantra and Vasantatilakā had been presented. In the current issue, the explanation given in the Samputodbhavantra has been presented.

Collection of Lost Bauddha Vacanas

9-14

In the present issue, teachings collected from *Laghutantraṭīkā* composed by Vajrapāṇī have been presented. This text, edited by Claudio Cicuzza, was published in *Serie Orientale Roma - LXXXVI* in 2001 by the Istituto Italiano per L'Africa e L'Oriente, Rome.

Apabhraṃśa in Buddhist Tantric Literature

15-26

In the 36th issue of *Dhīḥ* we had under the above rubric presented a description of the Apabhraṃśa fragments found in Buddhist Tantric texts, with the proposal that we would continue to present such fragments from frequently unpublished texts, in the hope that our scholarly readership would then be able to offer us guidance in the matter of analysing and editing such texts. As part of this effort, in the present volume we are presenting fragments from four texts. Because of the variant pagination across manuscripts, we have indicated merely the section numbers for these extracts, and not the page numbers, and have presented the text of the root without any changes in it.

Glossary of Buddhist Technical Terms

27-50

Under this rubric, collations of technical terminology used in texts of Buddhist tantra, and the varied meanings of such terminology, have been presented in the past. In the previous two issues, it was not possible to present any material under this rubric due to a lack of tantra texts. In the

current issue is presented technical terminology culled from two texts edited by Francesco Sferra, *Ṣaḍaṅgayoga* composed by Anupamarakṣita and it's commentary by Raviśrījñāna named *Guṇabharanīnāmaṣaḍaṅgayogaṭippanī*. The romanised version of these texts was published by him after collating the various manuscripts, along with a scholarly introduction, Tibetan version of the text, English translation and various appendices. The text was published in the year 2000 under the title "The *Ṣaḍaṅgayoga* by Anupamarakṣita with Raviśrījñāna's *Guṇabharanīnāmaṣaḍaṅgayogaṭippanī* (Text and annotated translation)" in *Serie Orientale Roma - LXXXV* of the Rome based Instituto Italiano per L'Africa e L'Oriente.

The Development of Mantranaya from Āryamañjuśrīmūlakalpa 51-64

In this article, considering the *Āryamañjuśrīmūlakalpa* to be a seminal text, a brief introduction of it is presented, along with its rendition in Tibetan and Chinese, the variations in the Sanskrit texts, the origin of Mantranaya, the achievement of enlightenment through mantra, the development of Mantranaya, the worldly mantras and *śabdajñāna*, the *arāva* - *sarāva* variation in mantras, the identification of the cries of animals etc. These topics are clarified on the basis of the *Āryamañjuśrīmūlakalpa*, and the benefits of three kinds of Buddhist tantra - *hetutantra*, *phalatantra* and *upāyatantra* being described therein, it is shown to be a *mūlatantra*.

Triratnastotra [Triple-Gem Hymn] of the Poet Ācārya Mātṛceṭa 65-74

Ācārya Mātṛceṭa, described by the Lord Tathāgata himself in *Āryamañjuśrīmūlakalpatantra*, and known also by the names of Āryasūra, Aśvaghoṣa etcetera, composed innumerable hymns in an unprecedented style on the Śākyamuni Buddha and his teachings. Of these, *Triratnastotra* is an important composition. This composition consists of four-fold ślokas, of which the first, a conventional hymn and prayer to the triad of Triple Gems, is to be found in several texts and is also available in Sanskrit. However, the remaining three ślokas, in which the unconventional attributes of the Buddha, the Dharma, and the Saṅgha are addressed, are not available in the original Sanskrit.

Therefore, we here present a critically annotated text of the Tibetan along with its Sanskrit restoration and Hindi translation. While giving a brief introduction to the text, the qualities of the Triple Gems are

highlighted, and because of the special purpose of the text, light is also shed on the system of three-fold refuge. An important commentary on this stotra by Ācārya Jinaputra is also available in the Tengyur corpus, but fearing excessive prolixity we have refrained from including the restoration of that here.

Sources of Rare Buddhist Texts

75-95

Under this rubric, information about 85 important handwritten manuscripts was provided in the 37th issue of *Dhīh*. In the present issue, information about an additional 79 handwritten manuscripts has been provided.

The Characteristics of Buddhist Divine Lineages

96-116

A brief initial mention of different Buddhist male and female deities is made in *Mañjuśrīmūlakalpa* and *Guhyasamāja*. In the *Guhyasamāja*, five Dhyānī Buddhas and their energies are mentioned. In fact, the conception of the five Dhyānī Buddhas and their energies is the basis for the Buddhist divine lineages, the various other gods and goddesses of the divine lineages having developed from these very Dhyānī Buddhas. In the present article, the characteristic features of different gods and goddesses of the Buddhist divine lineages are described on the basis of texts like *Sāadhanamālā*, *Niṣpannayogāvalī* and *Advayavajrasaṅgraha*.

The Qualities of the Disciple in Buddhist Tantras

117-128

This article presents a discussion of the features of a disciple, particularly the characteristics of virtue and good discipleship, as described in the Buddhist tantra texts. In the same context, the vices of a student are also looked at. Additionally, light is shed on the behaviour and actions of the disciple as explained in the text named *Gurupañcāśikā*, before finally indicating the significance of *dakṣiṇā* (payment-offering to a teacher) as explained in Buddhist tantras.

The Brief and Conventional Arrangement of Tantra

129-138

In the present issue, from the tantric teachings of Lord Buddha, the text of Acarya Buston titled *Brief and Conventional Door-Opening Key to the Treasury of Tantra* on the *Anuttarayogatantra* is presented in Hindi translation.

The Ground and Path Arrangement of Tantra

139-150

Under this title, the Hindi translation of Sertog Losang Tsultrim Gyatso's text *The Ground and Path Arrangement of Tantra* had been started. In the first part of this article, the arrangement of the conventional vehicle and the arrangement of the Mahāyāna vehicle was presented; in the present issue, Hindi translation of brief meditational methods of kriyā, caryā and yogatantra is given.

Dikṣā, 'Initiation' in Buddhist and Non-Buddhist Systems

151-156

In the 36th and 37th issues of *Dhīḥ*, the structure of initiation in Buddhist and Jaina systems was presented. In the present issue, Vedic and Tantric initiation are presented, including selections on related matters like fitness for initiation, period of initiation, recipient of initiation, giver of initiation, and the prohibitions of initiation, are being presented.

Āryāmoghapāśanāmamahāyānasūtra

157-169

Āryāmoghapāśanāmamahāyānasūtra is an important text of the kriyātantra. Although *Amoghapāśakalparājasūtra* and *Amoghapāśadhāraṇī* have reportedly been published from Japan in *Monumenta Nipponica* and in the book named *Studies of Esoteric Buddhism and Tantrism* from Koyasan University, we were unable to obtain these editions; in view of the importance of the text, it is presented here for the readership of *Dhīḥ*, having been edited from the Tibetan text.

ཙམ་གྱི་ངོ་སྟོན་མདོར་བསྟུས།

བསྟོན་པ་ཁག་གཉིས།

༡ - ༧

དོ་ཤིང་འཆང་ཆེན་པོར་མཆོན་བརྒྱུ་ཙམ་བརྒྱུད་ཀྱི་སྒོ་ནས་གསལ་བ་བཏབ་པའི་བསྟོན་པ་ཞེས་བྱ་བ་འདི་
ནི་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་དེ་ཁོ་ན་ཉིད་བསྟུས་པའི་རྒྱུད་ཀྱི་ལེའུ་དང་པོ་དོ་ཤིང་དབྱིངས་ཀྱི་
དཀྱིལ་འཁོར་ཆེན་པོའི་ཆོ་ག་རྒྱས་པ་ཞེས་བྱ་བ་ནས་སྤྱད་ཞིང་། (ཤོག་གྲངས་ ༡༤ - ༡༩) བསྟོན་
པ་གཞན་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ལ་ཆོགས་སུ་བཅད་པས་མདོན་པར་བསྟོན་པ་འདི་དག་
གསང་འདུས་ཙམ་རྒྱུད་ལེའུ་བཙོ་བརྒྱུད་པ་ནས་ཟུར་དུ་སྤྱད་ནས་འདིར་བཀོད་པ་ཡིན། (ཆོགས་སུ་
བཅད་པ་ ༢༠༩ - ༢༡༧)

‘གསང་བ་མཆོག་གི་དབྱེས་པ་ན།’

༡ - ༨

དུས་དེའི་འདོན་ཐེངས་སོ་བདུན་པའི་ནང་འཁོར་ལོ་སྟོན་པའི་རྒྱུད་དང་དབྱིད་ཀྱི་ཐིག་ལེའི་རྣམ་
བཤད་མཛད་པ་པོ་དག་གིས་འབྲེལ་ཚུལ་རྣམས་གསལ་སྟོན་བྱས་ཡོད། དུས་དེའི་འདོན་ཐེངས་
འདིར་སྤྲུལ་པའི་རྒྱུད་དམ་དཔལ་ཡང་དག་སྟོར་བའི་རྒྱུད་དུ་ཇི་ལྟར་འབྲེལ་ཚུལ་གསལ་སྟོན་བྱས་ཡོད།

ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཁག་གི་གཞུང་ཆོག་ཕྱོགས་བདུས།

༩ - ༡༧

དུས་དེའི་འདོན་ཐེངས་འདིར་ཕྱག་ན་དོ་ཤིང་མཛད་པའི་མདོན་བཛྲོད་འབྲམ་པ་ལས་སྤྱད་བ་ཉུང་དུ་
རྒྱུད་ཀྱི་བསྟུས་པའི་དོན་རྣམ་པར་བཤད་པ་ (Toh. 1402) ཞེས་བྱ་བའི་ནང་གསལ་བའི་ལུང་འདྲན་
རྣམས་ཕྱོགས་བདུས་ཀྱིས་དཔར་སྐྱུན་བྱས་ཡོད། གཞུང་འདི་ནི་སྤྱི་ལོ་ ༢༠༠༡ ལོར་(Istituto
Italiano per L' Africa E L' Oriente, Roma) མཐོ་སྟོབ་ཁང་ནས་ Serie Orientale
Roma བོད་སྟོན་བརྒྱུད་ཅུ་གྲུབ་པར་དཔར་བསྐྱུན་བྱས་ཤིང་། གཞུང་འདི་ Claudio Cicuzza
ཞེས་པའི་མཁས་པ་དེས་ཞུས་བསྐྱིགས་གནང་བ་ཞིག་གོ།

ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་དུ་གསལ་བའི་བྱར་ཆག་སྟེང་།

१९ - २९

རྩི་ཏུས་དེབ་གྱི་འདོན་ཐེངས་སོ་དུག་པར་གོང་འཁོད་འགོ་བཙུང་འོག་དེ་སྔ་དཔར་བསྐྱུན་མ་ཟིན་པའི་
ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ནམས་སུ་གསལ་བའི་བྱར་ཆག་གི་སྟེང་གི་སྟོར་ལ་གསལ་བཤད་བྱས་ཏེ་གཞུང་
དེ་དག་ནས་ཐོབ་པའི་བྱར་ཆག་སྟེང་གི་ཆ་ཤས་ནམས་སྟོ་ལྟན་མཁས་པའི་སྦྱན་སྒར་དཔར་བསྐྱུན་ཞུ་
རྒྱུ་དང་། དེ་ལས་སྟོ་ལྟན་མཁས་པ་ནམས་ཀྱིས་ཞུ་དག་དང་སྟོགས་བསྟོགས་བྱ་སྟོགས་ཐང་ང་ཚོར་
ལམ་སྟོན་གནང་རྒྱུ་རེ་འདུན་ཞུས་པ་བཞིན། ལས་རིམ་དེ་ལས་འབྲོས་ཏེ་འདོན་ཐེངས་འདིར་རྒྱུད་
གཞུང་ཁག་བཞི་ལས་ཐོབ་པའི་བྱར་ཆག་སྟེང་གི་གཞུང་གི་ཆ་ཤས་ནམས་བཞོད་ཡོད། མ་དཔེ་
ནམས་ཀྱི་པོད་ཆད་ནམས་ནམ་པ་ཐམས་ཅད་དུ་གཅིག་མཚུངས་མེད་སྟབས་ལྷང་འདྲེན་ཁག་འདི་
དག་གི་ལྟེན་གྲངས་ཨང་མ་བཞོད་པར་ལེའུ་འདི་གྲངས་ཙམ་བཞོད་པ་ཡིན། གཞན་ཡང་རྩ་བའི་མ་
དཔེའི་ནང་ཇི་ལྟར་གསལ་བ་ལྟར་དག་ཞུས་བཅས་བསྐྱར་སོགས་གང་ཡང་མ་བྱས་པར་བཞོད་ཡོད།

ནང་པའི་སྦྱན་མིན་ཆོས་ཆོག་ཁག་གི་དགོངས་པ།

२० - १०

འགོ་བཙུང་འདིའི་འོག་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ནམས་སུ་གསལ་བའི་ཆོས་ཆོག་གི་ཐ་སྙད་ནམས་དང་དེ་
དག་གི་བསྐྱུན་དོན་མི་འདྲ་བ་ཁག་སྟོགས་བདུས་ཞུས་ཡོད། གསར་དུ་དཔར་བསྐྱུན་ཞུས་པའི་རྒྱུད་
གཞུང་མ་ཐོབ་པའི་རྒྱུད་གྱིས་དུས་དེབ་དོན་ཐེངས་སྔ་མ་གཉིས་སུ་ནང་པའི་སྦྱན་མིན་ཆོས་ཆོག་ཁག་
སྟོགས་བདུས་ཞུས་བྱུང་མེད། ད་ལན་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་པའི་སྦྱན་མིན་ཆོས་ཆོག་ཁག་
བསྟོགས་ཞུས་པ་དཔེ་མེད་བསྐྱུངས་ཀྱིས་མཛད་པའི་སྟོར་བ་ཡན་ལག་དུག་པ་ (Toh. 1367) དང་།
དེའི་འགྲེལ་པ་མཁས་པ་ཆེན་པོ་གནས་བཏྲན་ཏི་མ་དཔལ་ཡེ་ཤེས་ཀྱིས་མཛད་པ་རྣལ་འབྱོར་ཡན་
ལག་དུག་གི་བཙུང་བྱང་ཡོན་ཏན་གྱིས་འགོངས་པ་ (Toh. 1368) ཞེས་པའི་གཞུང་ཆོན་གཉིས་
ལས་བདུས་པའི་ཆོས་ཆོག་ཐ་སྙད་ཁག་བཞོད་ཡོད། ཞུས་སྟོགས་པས་གོང་འཁོད་གཞུང་ཆོན་གཉིས་
ཀྱི་མ་དཔེ་འདྲ་མིན་ཁག་ལ་མཚུངས་བསྐྱར་དང་། མཁས་རྩལ་ལྟན་པའི་སྟེང་བཙུང་རྒྱས་པ་དང་

སྤྲུགས་བོད་དཔེ་ལ་ཞུས་བསྐྱེགས། གཞན་ཡང་དབྱིན་སྐད་ཐོག་པ་བ་བསྐྱར་དང་ལྷན་ཐབས་ཁག་
 བཅས་དང་ལེགས་སྦྲར་གྱི་མ་དཔེ་དེ་དབྱིན་སྐད་ཀྱི་ཡིག་གཟུགས་ཐོག་རྫོམ་རྒྱལ་ས་ནས་དཔར་
 བསྐྱར་ཞུས་ཡོད། གཞུང་འདི་རྫོམ་ནང་ཡོད་པའི་ Istituto Italiano Per L' Africa E L
 Oriente ཞེས་པའི་མཐོ་སྤྱོད་ཁང་ནས་སྤྱི་ལོ་༢༠༠༠ ལོར་བོད་སྐད་ ༤༥ པའི་ནང་དཔར་བསྐྱར་ཞུས་པ་ལོ།

འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་གྱི་ཙ་བའི་རྟོག་པ་ལས་སྤྲུགས་གྱི་

ཐེག་པའི་འཕེལ་རིམ།

༥༡ - ༩༠

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་གྱི་ཙ་བའི་རྟོག་པ་འདི་འབྱུང་ཁུངས་ཀྱི་གཞུང་ཞིག་
 ལ་ངོས་འཛིན་ཏེ། དེའི་ངོ་སྤྱོད་མདོར་བསྟུས་དང་། རྒྱ་ནག་སྐད་དང་བོད་སྐད་རྣམས་སུ་ཡོད་པའི་
 དེའི་འབྱུང་དང་། ལེགས་སྦྲར་གྱི་བོད་རྣམས་ཀྱི་དཔར་ཁུངས་པར་ཇི་ཡོད། སྤྲུགས་གྱི་ཐེག་པའི་བྱུང་བ་
 དང་། སྤྲུགས་གྱི་ལམ་ནས་སངས་རྒྱས་བྱུང་བ་ལྟར། སྤྲུགས་གྱི་ཐེག་པའི་འཕེལ་རིམ། འཛིག་རྟོན་
 པའི་སྤྲུགས་དང་སྦྲ་ཤེས་རྒྱལ། སྦྲ་མེད་པ་དང་སྦྲ་དང་བཅས་པའི་སྤྲུགས་གྱི་ཁུངས་པར་དང་། དུད་
 འགྲོའི་སྤྱི་ལོ་ངོ་སྤྱོད་ལ་སོགས་པའི་སྦྲར་རྣམས་གོང་སྦྲོས་ཀྱི་གཞུང་ལ་གཞི་བྱས་པའི་སྦྲར་རྣམས་གསལ་
 བར་བཀོལ་ཏེ། ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་གི་འཇུག་སྒོ་གསུམ་སྟེ་རྒྱའི་སྤྲུགས་དང་། འབྲས་བུའི་སྤྲུགས་
 དང་ཐབས་ཀྱི་སྤྲུགས་ཀྱི་འཐོབ་བྱ་རྣམས་རྒྱུད་གཞུང་འདིའི་ནང་གསུངས་པར་བརྟེན་རྒྱུད་འདི་ལ་ཙ་
 པའི་རྒྱུད་ཀྱི་རྒྱལ་དུ་བསྐྱབས་པར་བྱས་སོ།

སྤྱོད་དཔོན་ཆེན་པོ་མཁྱེད་ཅེས་མཛད་པའི་དཀོན་མཆོག་

གསུམ་གྱི་བསྟོད་པ།

༩༡ - ༡༠༠

འཇམ་དཔལ་ཙ་རྒྱུད་ལས་ཇི་ལྟར་གསུངས་པ་ལྟར་གྱི་རྒྱལ་བའི་ལུང་གིས་དངོས་སུ་ཟིན་ཅིང་། སྟོན་
 པ་སངས་རྒྱས་དང་དེའི་བསྟན་པ་ལ་བསྟོད་ཅིང་བསྤྲུགས་པའི་སྤྱོད་བ་སྤྱོད་པ་ལ་སྦྲ་མེད་ཅིང་། ཆོག་
 སྦྲར་ཕུན་སུམ་ཆོགས་པའི་རྩོམ་རྒྱལ་གྱི་དཔལ་ལ་བྱུ་མཆོག་ལྷབས་པོ་ཆེའི་གནས་ཐོབ་པའི་མཁས་

པ་ཆེན་པོ་སློབ་དཔོན་མ་ཁོལ་གྱིས་བཙམས་པའི་མཆོག་གསུམ་གྱི་བསྟོད་པ་ཟབ་བསྐྱིད་གྲགས་ཅན་
འདི་ཆོགས་བཅད་བཞིའི་བདག་ཉིད་ཅན་དུ་བཞུགས་ཤིང་། མཆོག་གསུམ་སྤྱི་ལ་བསྟོད་པུག་མཛད་
པའི་ཆོགས་བཅད་དང་པོ་འདི་གཞུང་མང་པོའི་ནང་གསལ་ཡོད་པ་ལྟར་ལེགས་སྦྱར་སྐྱད་ཐོག་དུ་ཡང་
ཉིད་དུ་ཡོད་ལ། ལྟག་མ་མཆོག་གསུམ་སོ་སོའི་ཡོན་ཏན་བཛྲོད་པའི་ཆོགས་བཅད་དེ་དག་ལེགས་
སྦྱར་རང་སྐྱད་ཐོག་ཉིད་སོན་མ་བྱུང་བས། ད་ལམ་འདིར་གཞུང་འདིའི་བོད་དཔེར་འདྲ་བསྐྱར་བསྐྱར་
ཞིབ་དང་འབྲེལ་ལེགས་སྦྱར་སྐྱད་ཐོག་ཉམས་གསོ་དང་། ཉིན་སྐྱད་ཐོག་པའ་བསྐྱར་དང་སྦྱགས་ཡོན་
ཏན་དེ་ལྟར་གྱི་མཆོག་གསུམ་ལ་སྦྱབས་སུ་འགོ་རྩུལ་གྱི་རྣམ་བཞག་མདོར་བསྐྱར་ཤིག་ཀྱང་དགོས་
དབང་གིས་ངོ་སྟོད་ལས་འཕྲོས་པའི་རྩུལ་དུ་བཀོད་ཡོད།

བསྟོད་པའི་གཞུང་འདི་ལ་སློབ་དཔོན་རྒྱལ་པོའི་སྤྲས་གྱིས་མཛད་པའི་འབྲེལ་བ་བྱུང་དུ་
འཕགས་པ་ཞིག་བསྟན་འགྲུར་བསྟོད་ཆོགས་ནང་མཆིས་ཀྱང་འདིར་མང་དུ་དོགས་ནས་འདྲ་བསྐྱར་
བསྐྱར་ཞིབ་དང་ཉམས་གསོ་པའ་བསྐྱར་སོགས་རེ་ཞིག་མ་བྱས་སོ།

ཆེས་དཀོན་པའི་གསུང་རབ་ཁག་གི་རྩ་བའི་མ་དཔེ།

ཡྲ - ༩ྱ

རྗེ་འདོན་མེངས་སོ་བདུན་པའི་ནང་འགོ་བཛྲོད་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་བརྒྱད་ཅུ་
གྲ་ལྟའི་སྐོར་ངོ་སྟོད་ཞུས་ཡོད། འདོན་མེངས་འདིར་སྤྱ་མའི་འཕྲོས་གྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་གཞན་
བདུན་ཅུ་དོན་དགའི་ངོ་སྟོད་བཀོད་ཡོད།

ནང་པའི་ལྟའི་རིགས་གྱི་ཡང་དག་པའི་ངོས་འཛིན།

༩༩ - ༡༡༩

ཆེད་རྩོམ་འདིའི་ནང་ནང་པའི་ལྟའི་རིགས་གྱི་ངོ་བོའི་སྐོར་ལ་གསལ་བཤད་ཞུས་ཡོད། མདོར་ན་ནང་
པའི་ལྟའི་རིགས་གྱི་སྐོར་ལ་ལྟ་དང་ལྟ་མོའི་ཐོག་མའི་གསལ་ཁ་འཕགས་པ་འཇམ་དཔལ་རྩ་བའི་
རྒྱུད་དང་གསང་བ་འདུས་པ་གཉིས་སུ་གསལ་ཡོད། གསང་བ་འདུས་པར་སངས་རྒྱས་ལྟ་དང་དེ་
དག་གི་རྣམ་པའི་སྐོར་བསྟན་ཡོད། དངོས་པོའི་གནས་ཚུན་ལ་སངས་རྒྱས་རིགས་ལྟ་དང་དེ་དག་གི་

རྒྱས་པའི་བཏག་པ་དེ་ནང་པའི་ལྷའི་རིགས་ཀྱི་ལྷ་གནས་སམ་གཙོ་བོ་ཡིན། སངས་རྒྱས་ལྷ་པོ་དེ་
དག་ལས་ནང་པའི་ལྷའི་རིགས་ཀྱི་ལྷ་དང་ལྷ་མོ་གཞན་ཐམས་ཅད་འཕེལ་རྒྱས་བྱུང་ཡོད། འདི་ལྷ་ར་
སྐྱབ་ཐབས་ཀྱི་ཐེང་བ་དང་། རྫོགས་པའི་རྣལ་འབྱོར་གྱི་ཐེང་བ། གཉིས་མེད་དོ་རྗེའི་གཞུང་བསྐྱས་
པ་ལ་སོགས་པའི་རྒྱད་གཞུང་རྣམས་ལ་གཞི་བྱས་ཏེ་ནང་པའི་ལྷའི་རིགས་ཀྱི་ལྷ་དང་ལྷ་མོའི་ངོ་བོའི་
མཆན་ཉིད་རྣམས་གསལ་སྟོན་བྱས་ཡོད།

ནང་པའི་རྒྱད་གཞུང་ཁག་དུ་གསལ་བའི་སྟོབ་མའི་མཆན་ཉིད། ༡༡༧ - ༡༢༤

རྩོམ་གྱིས་འདིའི་ནང་ནང་པའི་རྒྱད་གཞུང་གི་བསྟན་བཅོས་རྣམས་སུ་གསལ་བའི་སྟོབ་མའི་རང་
བཞིན་དང་། ལྷག་པར་དུ་དེའི་ཡོན་ཏན་དང་སྟོབ་མ་བཟང་བོའི་མཆན་ཉིད་སྟོར་བཤད་ཡོད། དེ་ལས་
འབྲོས་ཏེ་སྟོབ་མའི་ཉེས་སྟོན་གྱི་སྟོགས་ལ་འང་གསལ་བཤད་ཞུས་ཡོད། དེ་དང་ཆབས་ཅིག་སྟོབ་མ་ལྷ་
བཅུ་པ་ཞེས་པའི་གཞུང་དུ་བསྟན་པའི་སྟོབ་མའི་ཀུན་སྟོང་དང་བྱ་སྟོང་གི་སྟོར་ལ་གསལ་བཤད་དང་སྟོགས་
གཞུང་གི་མཐར་ནང་པའི་རྒྱད་གཞུང་རྣམས་སུ་བསྟན་པའི་ཡོན་གྱི་ཆེ་བའི་སྟོར་ཡང་བསྟན་ཡོད།

བྱ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱད་ཕྱེ་སྟེའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ། ༡༢༥ - ༡༣༤

རྫོགས་འདོན་ཐེངས་སྟེ་མ་རྣམས་སུ་འགོ་བརྟེན་འདིའི་འོག་བོད་ཀྱི་མཁས་དབང་བྱ་སྟོན་རིན་པོ་ཆེས་
མཛད་པའི་རྒྱད་ཕྱེ་སྟེའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ་རྒྱད་ཕྱེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྟོ་འབྱེད་པའི་ལྷ་མོ་ཅེས་
པའི་གཞུང་འདི་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བ་བསྐྱར་ཞུ་བའི་རིམ་པ་ལས་འབྲོས་ཏེ། འདོན་ཐེངས་འདིར་རྣལ་
འབྱོར་སྟེ་མེད་རྒྱད་རྗེ་ལྷ་ར་གསུངས་ཚུལ་གྱི་སྟོར་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བ་བསྐྱར་ཞུས་ནས་བཀོད་ཡོད།

དོ་རྗེ་ཐེག་པའི་ས་དང་ལམ་གྱི་རྣམ་གཞག

༡༣༥ - ༡༤༠

འགོ་བརྟེན་འདིའི་འོག་སེར་ཏོག་སྟོ་བཟང་ཚུལ་བྱིམས་ཀྱི་མཆོས་མཛད་པའི་དོ་རྗེ་ཐེག་པའི་ས་དང་
ལམ་གྱི་རྣམ་གཞག་ཅེས་པའི་གཞུང་འདི་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བ་བསྐྱར་ཞུས་ནས་རིམ་པས་དུས་དེབ་སྟེ་

མའི་སྐབས་ནས་དབུ་འཇུག་སྐབས་ཡོད། དེར་ཐེག་པ་སྤྱི་རྒྱུ་གཞན་དང་ཐེག་ཆེན་གྱི་རྒྱུ་
གཞན་སྐོར་བསྟན་ཡོད། འདིར་འདོན་ཐེངས་སུ་མའི་འཕྲོས་རྒྱུ་སྤྱི་རྒྱུ་མ་གསུམ་གྱི་ལམ་བཟོད་
རྒྱུ་སྐོར་སུ་མཐུད་ནས་ཉིན་སྐད་ཐོག་པ་བསྐྱར་ཞུས་ཡོད།

ནང་ཆོས་དང་དེ་ལས་གཞན་པའི་ཆོས་ལུགས་རྒྱུ་བསྟན་པའི་

སྤྱི་པའི་ངོ་བོ།

༡༣༡ - ༡༣༩

དེ་སྤྱི་པའི་འདོན་ཐེངས་སུ་མ་ཕྱག་པ་དང་སོ་བདུན་པའི་ནང་ནང་པ་དང་གཅེར་བུ་པའི་
ཆོས་ལུགས་ཀྱི་སྤྱི་པའི་རིམ་པ་བསྟན་ཟིན་ཅིང་། འདོན་ཐེངས་འདིར་རིག་བྱེད་པའི་ཆོས་ལུགས་
དང་རྒྱུ་དུ་གསལ་བའི་སྤྱི་པའི་ངོ་བོའི་ཁོངས་སུ་སྤྱི་པའི་དགོས་པ་དང་། དེའི་དུས་དང་། སྤྱི་
སྤྱི་པ་གནང་མཁན་གྱི་སྤྱི་པ་དང་། སྤྱི་པའི་དགག་བྱ་བཅས་དེ་དག་དང་འབྲེལ་བའི་ཆ་ཤས་དག་
བསྟན་ཡོད།

འཕགས་པ་དོན་ཡོད་ཞགས་པའི་སྤྱི་པའི་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ། ༡༣༧ - ༡༩༩

འཕགས་པ་དོན་ཡོད་ཞགས་པའི་སྤྱི་པའི་ཞེས་བྱ་བ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་མདོ་འདི་བྱ་རྒྱུ་གྱི་གཞུང་
གལ་ཆེ་ཞིག་ཡིན། དོན་ཡོད་ཞགས་པ་རྟོག་པའི་རྒྱལ་པོའི་མདོ་དང་དོན་ཡོད་ཞགས་པའི་གཟུངས་
ཞེས་བྱ་བའི་མཚན་ཐོག་ལ་ཉི་ཉོང་གི་ Monumenta Nipponica དང་། Studies of
Esoteric Buddhism and Tantrism ཞེས་པའི་གཞུང་དེ་གཉིས་ནང་གོ་ཡོ་སན་མཐོ་སྤྱོད་
ཁང་ནས་དཔར་བསྐྱར་ཞུས་ཡོད་ཆོད་འདུག། འོན་ཀྱང་དཔར་མ་དེ་ང་ཆོས་ཐོབ་ཐུབ་པ་བྱུང་མེད།
གཞུང་གི་གལ་གནད་ལ་ཞིགས་ཏེ་བོད་འགྱུར་མ་དཔེ་ལ་གཞི་བྱས་ནས་ཞུས་བསྐྱོགས་བགྱིས་ཏེ་
རྒྱ་དུས་དཔེ་ལྟོག་པ་པོ་རྒྱུ་གྱི་ཆེད་དུ་འདིར་དཔར་བསྐྱར་ཞུས་ཡོད།

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

List of books published under Rare Buddhist Texts Series

1. Guhyādi-Aṣṭasiddhi Saṁgraha (1988) : Rs. 115 Hb, 90 Pb.
2. Jñānodaya Tantram (1988) : Rs. 15Pb.
3. Durlabha Grantha Paricaya Vol. I (1990) : Rs. 55Hb.
4. Durlabha Granthorṁ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb.
5. Bauddha Tantra Kosha, Vol. I (1990) : Rs. 45Hb, Rs. 40Pb.
6. Lupta Bauddha Vacana Saṁgrah, Vol. I (1990) : Rs. 40Hb, Rs. 30Pb.
7. Vasantatilaka of Kṛṣṇapāda with commentary. (1990) :
Rs. 95Hb, Rs. 70Pb.
8. Dākinījālasaṁvararahasyam (1990) : Rs. 15Pb.
9. Kṛṣṇayāmāri Tantra with Ratnāvalīpañjikā of Kumaracandra (1992) :
Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
10. Mahāmāyā Tantra with Guṇavatiṭikā of Ratnākaraśānti (1992) :
Rs. 70Hb, Rs. 50Pb.
11. Abhisamayamañjarī of Śubhākaragupta (1993) : Rs. 35Pb.
12. Vimalaprabhāṭikā, Vol. IIInd, Rs. 110Hb, Rs. 75Pb.
13. Vimalaprabhāṭikā, Vol. IIIrd, Rs. 110Hb, Rs. 70Pb.
14. Bauddha Tantra Kosha, Vol. II (1997) : Rs. 100Hb, Rs. 85Pb.
15. Sūtratantrodabhava katipaya Dharaṇīmantra (1997) : Rs. 75Hb,
Rs. 55Pb.
16. Adhyātmasāraśatakam (1997) : Rs. 40Pb.

17. Durlabha Bauddha Grantha Paricaya, Vol II (1997) : Rs. 150Hb, Rs. 125Pb.
18. Durlabha Granthorñ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. II (1997) Rs. 180Hb, Rs. 150Pb.
19. Bauddha Laghu Grantha Saṁgraha (1997) : Rs. 110Hb, Rs. 80Pb.
20. Siddhaikavīramahātantram (1998) : Rs. 90Hb, Rs. 60Pb.
21. Yoginīsañcāratāntram with Ṭīkā (1998) : Rs. 170Hb, Rs. 140Pb.
22. Caryāmelapakapradīpam of Āryadeva (2000) Rs. 160Hb, Rs. 110Pb.
23. Tattvajñānasārisiddhi with Commentary : (2000) Rs. 135 Hb, Rs. 100Pb.
24. Kurukullākālpaḥ : (2001) Rs. 100Hb, Rs. 65Pb.
25. Lupta-Baudha-Vacana-Saṁgraha : Vol. II, (2001) Rs. 110Hb., Rs. 70Pb.
26. Śrīcakrasaṁvaratantram with Vivṛtti by Bhavabhṭṭa, Vol. I-II, (2002), Rs. 400Hb, Rs. 300 Pb (set of 2 vols.).
27. Durlabha Granthorñ kī Ādhāra Sāmagrī, Vol. III (2004) : Rs. 230 Hb, Rs. 140 Pb.
28. Sampādana Ke Siddhānta Aur Upādana : (Collection of Articles) (1990) Rs. 150Hb, Rs. 100Pb.
29. Bhāratiya Tantraśāstra (Proceedings of Workshop) (1995) : Rs. 380Hb, 220Pb.
30. **Dhīh**: Back issues of the journal are also available in limited number.
Complete set (Vol. I to XXXVIII): Total Rs. 2619.00.





